मानव मन्दिर

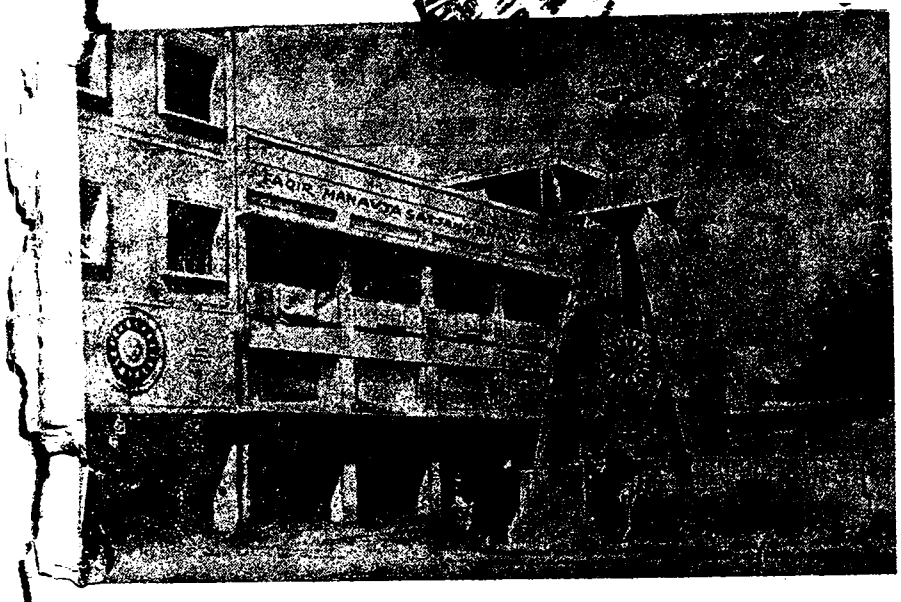

फकीर लायब्रेरी चैरीटेबल ट्रस्ट
सुतेहरी रोड, होशियारपुर
द्वारा अमूल्य भेंट
संस्थापकः परम संत परम दयाल
एं. फकीर चन्द जी महाराज

FORM

(See Rule 8)

Place of Publication	Hoshiarpur
Date of Publication	10th of every month
Periodicity of Publication	Monthly
Printer's Name	Dr. Paras Ram Aggarwal
Nationality	Indian
Address	Manavta Mandir, Hoshiarpur
Editor's Name	Dr. Paras Ram Aggarwal
Nationality	Indian
Address	Manavta Mandir, Sutehri Road, Hoshiarpur.
Name and address of individuals, who own the Manav Mandir or partners or shareholders, holding more than one Percent of the total capital.	Faqir Library Charitabl Trust, Hoshiarpur.

I, Dr. Paras Ram Aggarwal hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

Dated :

Signature of Publishe

Printed and Published by : Dr. Paras Ram at Shiv Dev Rao Press, Manavta Mandir Hoshiarpur for the Faqir Library Charitable Trust, Hoshiarpur

मानवता मन्दिर में अगला मासिक सत्संग
16-11-86 को होगा ।

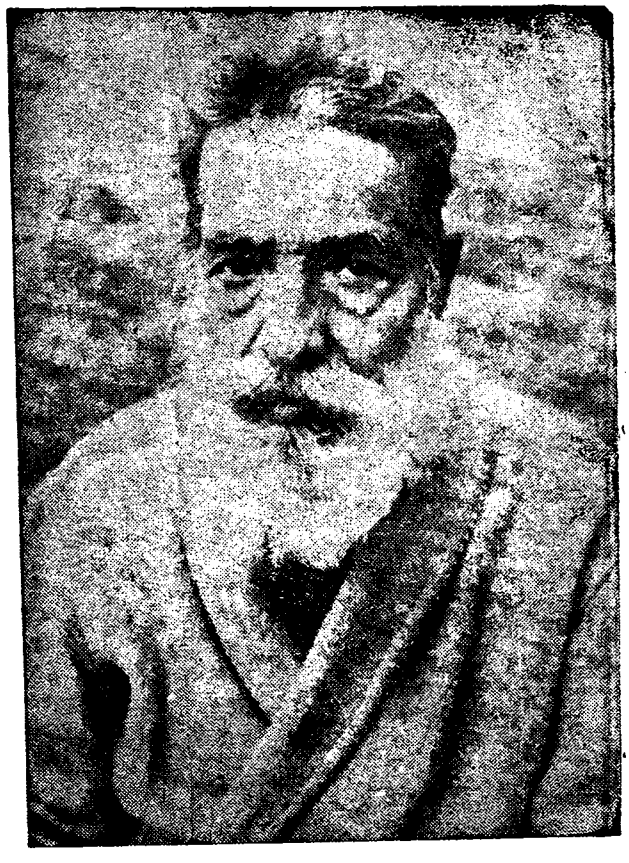

Param Sant Param Dayal Faqir Chand ji Maharaj

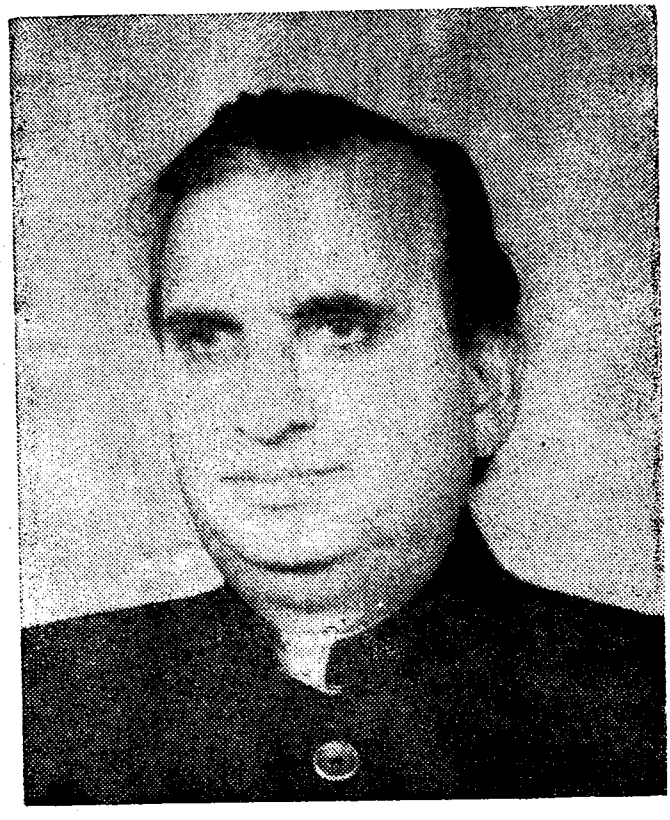

Param Sant Manav Dayal Dr. I. C. Sharma ji Maharaj

मासिक—

मानव मन्दिर

विश्व में मानव मात्र के सामाजिक सांस्कृतिक
और आध्यात्मिक कल्याण और विकास की
सेवा में संलग्न मासिक पत्र

सम्पादक :
डा० परस राम अग्रवाल

वर्ष 13	सोमवार 10 नवम्बर 1986	संख्या 7

सत्संग हजूर दाता दयाल महर्षि शिवव्रत लाल जी महाराज

राधास्वामी धाम 14-6-1930

मुर्शिदपरस्ती (गुरुभक्ति)

गुरु गुरु मैं हिरदै धरती ।
गुरु आरत का सामाँ करती।

जैसा ख्याल वैसा हाल, जैसा हाल वैसा काल (बातचीत)---अगर मनुष्य के अन्दर वहम भरे हुए हैं तो उसके ख्यालात भी वहमी, उसके हालात भी वहमी और उसकी बातचीत भी वहमी होगी। अगर इन्सान के दिमाग में कोई बात बैठ गई है तो उसके हालात, ख्यालात और बातचीत उसी के मुताबिक होगी। मनुष्यों की काफी संख्या वहमपरस्त है। जिस चीज को आँख से नहीं देखा उसके विश्वास को पक्का करने का ख्याल हमेशा दिल में रहता है। चूँकि देखा नहीं, समझा नहीं और बूझा नहीं इसलिए ऐसे कमज़ोर और झूठे विश्वास का दिल के ख्यालात में हद दर्जे का डर बना रहेगा। ऐसे आदमी का मुर्शिदपरस्त होना बहुत मुश्किल है क्योंकि उसके अन्दर कमज़ोरी और कमी है जो किसी तरीके से दूर नहीं की जा सकती। चोर मकान के अन्दर

घुमा हुआ है चोर अन्दर दाखिल होने का ख्याल पहले ही उसके अन्दर मौजूद है। इसके वास्ते वो बेशक लाखों बातें बनाये परन्तु वो तो बातें ही बनाता रहेगा और चोर अन्दर ही अन्दर चोरी करता रहेगा। इसलिए सन्तों ने बगैर किसी डर और खौफ के यह ऐलान किया :—

आदमी रा बचश्मे हार निगर,
अज़ ख्याले परी वा जां बिगुज़र।

अर्थ—जिन्न और परी के वहम को छोड़ो और आदमी को उसके हाल की नज़र से देखो।

कहने का तात्पर्य यह है कि सन्तों और फकीरों ने फर्जी और वहमी माबूद (ईश्वर) का ख्याल दिल से हटा दिया और अपनी ख्याली निगाह के सामने कामिल पुरुष के विश्वास को बतौर इष्ट के कायम किया। इसी कामिल पुरुष को गुरु बोलते हैं।

यह कामिल पुरुष न ईश्वर है न परमेश्वर है, न ऋषि है न मुनि है, न ब्रह्मा है न विष्णु है और न शिव है। अगर ये सब नाम ज़िन्दा हस्तियों के हैं तो उनको नमस्कार परन्तु इनमें से कोई भी गुरु की बराबरी नहीं कर सकता। अगर ये हैं या अगर ये नहीं हैं तो इनके होने या न होने से हमको बहैसियत इन्सान कुछ लेना-देना नहीं। अगर हम ज़बरदस्ती इसके वहम में पड़ते हैं तो सिवाय इसके कि हम अपना नुकसान करें और कोई फायदा इनसे नहीं होता।

अगर ये नहीं हैं तो नहीं के पीछे हमको जाने की कोई ज़रूरत नहीं है। और अगर ये हैं तो इनकी हस्ती की बुनियाद गुरु के मातहत है। इसका मतलब यह है कि इन तमाम ईश्वर, परमेश्वर, ब्रह्मा, विष्णु और महेश को पैदा करने वाली गुरु की ज़ात है। अगर गुरु न होता तो फिर कौन शख्स इनके वजूद या इनके मौजूद होने का सबूत देता।

इनकी हस्ती गुरु की ज़बानी सुनी जाती है यानि गुरु अपनी ज़बान से इनको पैदा करता है इसलिए वह इन सबका पैदा करने वाला है।

अब बताओ गुरु से बढ़कर हम और किसको जानें? गुरु की हस्ती और किसी अकली दलील या फरमान की मोहताज नहीं है और ये तमाम ख़्याली हस्तियाँ गुरु की हस्ती के आधीन हैं इस वास्ते गुरु की पवित्र हस्ती इन सबसे ऊपर है। किसी ने सच कहा है :—

"गुरु गोविन्द दोनों खड़े का के लागूँ पाय।
बलिहारी गुरुदेव की गोविन्द दिया लखाय।"

स्तुति गोविन्द की नहीं है स्तुति गुरु की है यानि गुरु ने गोविन्द को पैदा करके दिखा दिया।

सतपुरुष या गुरु का ख़्याल आसान से आसान और मुश्किल से मुश्किल है। आसान इस वजह है कि हम अपनी इन ज़ाहिरी आँखों से गुरु के दर्शन करते हैं उसके कलाम को सुनते हैं। उसके कलाम या सत्संग की वजह से हमारी ख़्याली आँखों के सामने ज़मीन और आसमान के सभी लोक-लोकान्तर आ जाते हैं।

गुरु है—गुरु की हस्ती को साबित करने के लिए किसी सबूत की जरूरत नहीं इस ख़्याल से यह आसान है और मुश्किल इस कारण से है कि आदमी कामिल पुरुष की ज़ात से नफरत करता हुआ अपने आपको हद दर्जे का हकीर और ज़लील साबित करता है। उसको बार-बार समझाया गया कि इन्सान सारी सृष्टि में उत्तम है परन्तु वहम में पड़कर उसने अपनी शराफ़त को जवाब दे दिया और अपने आपको ऐसी हस्तियों के सामने मोहताज और बेइज़्ज़त बनाया जिनको उसने कभी अपनी आँखों से भी नहीं देखा और वहम में पड़कर हमेशा ज़लील और बेइज़्ज़त होता रहा। आखिर

परिणाम यह हुआ कि बगैर ज़रूरत के अपना नाम 'बन्दा' रखा और बन्दगी की जंजीर अपनी गरदन में डाली और गिरते-गिरते यहाँ तक गिर गया कि अब आगे गिरने की हद नहीं रही। क्या था और क्या बन गया। जो चीज़ अपनी हैसियत से गिर जाती है वह हमेशा गिरती ही चली जाती है और अपनी इज्ज़त को हमेशा के लिए खो देती है। इसी वास्ते ऊपर दिये गये दोहे में फारसी के कवि ने बिलकुल सच्ची बात कही है कि मियाँ तुम परी और जिन्न के ख्याल में क्यों पड़े हो इन्सान को इन्सान की नज़र से क्यों नहीं देखते।

दूसरी बात यह है जिन पिछलों को तुमने कभी अपनी आँखों से नहीं देखा उनकी टेक क्यों बांधते हो ? उनके वहम का सौदा क्यों पकाते हो ? इस टेक बांधने का भी वही नतीजा होता है जो वहमपरस्तों का होता है।

अगर किसी ज़माने में कोई बुज़ुर्ग गुरु हुआ तो क्या और नहीं हुआ तो क्या उससे तुमको क्या और हमको क्या। वह ज़माना लद गया जब खलील खाँ फ़ाख्ता उड़ाया करते थे। धन्वन्तरी गुज़र गया अब वह तुम्हारे फोड़े को चीरने के लिए नहीं आयेगा। अगर फोड़े में अब नश्तर लगाना हो तो इस वक्त जो डाक्टर मौजूद है उसके पास जाओ तब काम बनेगा। और अगर धन्वन्तरी-२ करते हो तो जाओ हवा खाओ तुम जानो और तुम्हारा फोड़ा जाने।

तीसरी बात यह है कि इन्सान मौजूदा इन्सान से ही फायदा उठा सकता है जो मर चुके हैं उनसे नहीं। आपका काम जब भी बनेगा किसी मौजूदा इन्सान से ही बनेगा। मोहब्बत का दम अगर भरा जायेगा तो उसीसे भरा जायेगा :—

इष्ट का बन्दा हुआ है छोड़ सारे कीलो काल।
माज़ी मुस्तकबिल नहीं वह हाल का कुछ कर ख्याल ।।

सुनने में ये बातें आश्चर्यजनक हैं—"मैं उस मुर्शिद का मुरीद हूँ जो आज से सौ वर्ष पहले दुनिया में कमाल का डंका बजा गया। मैं उस माशूक का आशिक हूँ जो चार सौ वर्ष हुए हुसीनों में सबसे हुसीन था।" देखो यह नादान कैसी बेतुकी हाँक रहा है। पीरी और मुरीदी इस वक्त का सौदा है या गुज़रे हुए समय या आगे आने वाले समय का? और हुस्न और इश्क इस समय का जज़बा है या गुज़रे हुए समय का?

चौथी बात यह है कि जिसका राज उसकी दुहाई, जिसकी हकूमत उसी का सिक्का। यही बात है जो नादानों की समझ में नहीं आती। कौन इनसे डेरे और कौन इनसे झगड़े। कहने वाला कह गया :—

सतयुग त्रेता द्वापर बीता।
काहू न जानी शब्द की रीता ।।
कलियुग में स्वामी दया विचारी।
परगट करके शब्द पुकारी ।।
जोव काज स्वामी जग में आये।
भव सागर से पार लगाये ।।
तीन छोड़ चौथा पद दीन्हा।
सतनाम सतगुरु गति चीन्हा ।।

एक आदमी मच्छ, कच्छ, वराह और नरसिंह का नाम लेकर दुआएँ माँग रहा था, दूसरा आदमी वामन, परशुराम और राम के नाम की दुहाई दे रहा था और तीसरा कृष्ण-२ और बुद्ध-२ चिल्ला रहा था। एक समझदार इन्सान ने तीनों की बात सुनी। उनसे पूछा कि तुम यह क्या कर रहे हो? पहले आदमी ने कहा कि मैं सतजुगी भगवान् का नाम

लेता हूँ। दूसरे ने कहा मैं त्रेता के इष्ट-देवताओं की आराधना कर रहा हूँ। तीसरे ने कहा मैं द्वापर के अवतारों के नाम का चिराग़ जलाता रहता हूँ। वह हँसा और बोला—तुम बड़े मौदाई हो। पुराने राजाओं का क्या नाम लेते हो इस ज़माने के राजाओं के नाम लो तो तुम्हारा कुछ काम भी बने। यह तुम्हारी सख्त ग़लती है और इसका कोई लाभ नहीं। उन्होंने कहा—तू कहीं का बड़ा अक्लमन्द आया है हम तेरी बात मानें या अपने शास्त्रों की। वह हँसा और कहने लगा—अपने शास्त्रों की बात मानो जो कह गये हैं :—

ध्यान प्रथम जुग मख जुग दूजे।
द्वापर परितोषित प्रभु पूजे॥
कलि केवल इक नाम आधारा।
श्रुति स्मृति सन्तमत सारा॥

अर्थ—सतयुग का धर्म ध्यान, त्रेता का यज्ञ, द्वापर का मूर्तिपूजा और कलियुग में नाम—यही नाम श्रुति और स्मृति सब का सार है। कहने वाला कह गया है :—

लीक पुरानी छोड़ तेरे भले की कहूँ।
टेक पक्ष गुरु बांध तेरे भले की कहूँ॥
पिछलों की तज टेक तेरे भले की कहूँ।
वक्त गुरु को मान तेरे भले की कहूँ॥

लेकिन इसे कौन सुनता और समझता है। यह केवल सन्तों का मत है जो मुर्शिदपरस्ती के ज़रिये वास्तविकता की तरफ लेजाने का प्रबन्ध करता है।

गुरु महिमा

1. गुरु कुम्हार सिष्य कुम्भ है घड़ घड़ काढ़े खोट।
अन्तर हाथ सिहारदे बाहर दे दे चोट॥

2. गुरु को मानुष जानते ते नर कहिये अन्ध ।
होयँ दुःखी संसार में आगे जम का फन्ध ।।
3. गुरु किया है देह को सतगुरु चीन्हा नाहिं ।
भवसागर की धार में फिर फिर गोता खाहिं ।।
4. कबीर ते नर अन्ध हैं गुरु को कहते और ।
हरि रूठे तो ठौर है गुरु रूठे नहिं ठौर ।।
5. कबीर हरि के रूठते गुरु के शरणे जाय ।
कहें कबीर गुरु रूठते हरि नहि होयँ सहाय ।।
6. गुरु गोविन्द दौऊ एक हैं दूजा सब आकार ।
आपा मेटे हरि भजे तब पावे करतार ।।
7. गुरु हैं बड़े गोविन्द से मन में देख विचार ।
हरि सिरजे ते वार हैं गुरु सिरजे ते पार ।।
8. गुरु गोविन्द दोनों खड़े का के लागूं पाय ।
बलिहारी गुरुदेव की गोविन्द दिया लखाय ।।

———

सत्संग परमदयाल

फ़कीरचन्द जी महाराज

प्रकृति की बैलेंस (समतोलन)

यह युग मौज आधीन बने और बिगड़े ।
यह खेल सुहाना है देख देख हम बिगसे ।।
राम को मिलने आये थे, राम से ऐसे मिले ।
भूले खुद को साथ ही, राम को भी अब भूल रहे ।।
जहाँ का अनुभव है हुआ, वहाँ परम तत्त्व रहे ।
कहन, सुनन, सोचन और मनन कुछ ही न रहे ।।

क्यों आये थे ?

इसका उत्तर क्या दूं ! वर्तमान विज्ञानियों ने स्थूल जगत् की रिसर्च (Research) की । उन्होंने इस युग में एटम व हाइड्रोजन बम आदि को बनाया । इस समय संसार में एक नया दौर आ रहा है, किन्तु प्रकृति माता में हर वस्तु की विरुद्ध (Anti) ऐन्टी वस्तु उत्पन्न होती है । हम भी इस स्थूल जगत् की Research (रिसर्च) के प्रतिकूल (ऐन्टी) बनकर आये हैं । जहाँ स्थूल जगत् की शक्तियाँ मानव जाति के हृदयों में चिंता व भय उत्पन्न कर रही हैं, वहाँ हमारी मानसिक व आत्मिक धारें इस चिन्ता व भय को जो इस स्थूल जगत् के प्राणियों की वासनाओं से उत्पन्न

होती हैं ब्रह्माण्ड में फैल कर दूर करने का प्रयत्न करती रहती हैं। प्रकृति Balance (संतुलन) बराबर रखती रहती है। यों भी देखा जाता है कि अत्याचारी को अत्याचार करने में आनन्द मिलता है, तो दीन दुःख सहता हुआ भी एक प्रकार का चैन लेता है। जहाँ धनाढ्य व पदाधिकारी अपने धन व शासन का आनन्द लेता है वहाँ वह दुःखी भी होता है। इसी प्रकार एक निर्धन व दास यदि निर्धनता व शासन का दुःख सहन करता है, उसमें सहनशीलता व सन्तोष का भी सौख्य है।

साधु व सन्त इस संसार में इस Balance (सन्तुलन) को स्थिर रखते हैं। वे देखने में निर्धन हैं। संसार में कोई आदर-सम्मान नहीं, नाम नहीं, घर नहीं, घाट नहीं, किन्तु वे नाम-रत्न के धन से मालामाल हैं। यह नाम जिसका उल्लेख धर्म व पन्थ करते हैं, क्या है? मनुष्य के अन्दर में सुख, शान्ति व जगत् की भलाई की भावनाओं का रहना ही नाम की प्राप्ति है। राधास्वामी मत वाले अथवा अन्य नामधारी पन्थ, सम्प्रदाय मेरी इस व्याख्या पर सम्भवतः टीका-टिप्पणी करने वाले केवल वह हैं जिनको सन्तों का या पूर्णपुरुषों का सत्संग नहीं मिला है :—

नाम रहे चौथे पद माहीं, यह ढूंढ़ें त्रिलोकी माहीं ॥

इन्होंने नाम को कोई शब्द समझा हुआ है या यह नाम को अन्तरी शब्द ही मानते हैं। यदि अभ्यासी होते तो इनको स्वयं पता लगता कि बाह्य सुमिरन व आन्तरिक अनहद के आगे एक हालते हस्ती है जहाँ—

न प्रकाश है न शब्द है न राम है न रहीम है।
न वहां 'अ' कोई न 'उ' कोई और न कोई 'म' ही है॥
न जिस्म है कोई वहाँ न कोई मन है और न वहां रूह है।
वह हालते हस्ती जिन्दगी का अन्त है और वही शुरू है॥

जीवन के अनुभव ने चूंकि मुझे निश्चय करा दिया है कि वह परमतत्त्व ही सबका आधार है इसलिए यह निश्चय रखकर अपने आपको उस दशा में परिवर्तित करता रहता हूँ कि Peace to the humanity। यदि इसका कोई परिणाम श्रेष्ठतर हुआ और हमारा देश इस स्थूल जगत् के विज्ञान के बुरे प्रभावों से बचा रहा तो मेरा अनुसंधान सच्चा अन्यथा गलत व झूठ। यह परीक्षण है।

रूस व अमरीका अपने बौम्ब्स् का परीक्षण करते रहते हैं। हम भी अपनी मानसिक व आत्मिक भावनाओं का परीक्षण करते हैं। बहुत से परीक्षणों में चूंकि सफलता हुई इसलिए इस बड़े भारी परीक्षण को आजमाने का विचार है। मानसिक व आत्मिक उन्नति वाले और भी बहुत से साधु सन्त होंगे किन्तु जो महात्मा साधु, स्त्री, धन, मान, प्रतिष्ठा के लोभ में आ गये हैं वह असफल रहेंगे।

चाहे कोई महात्मा हो जो डेरा, धाम अथवा किसी मत-मतांतरों के पक्ष में है वह असफल रहेगा, न वह इस पद तक पहुँच सकता है चूंकि उसका विचार संसार की ओर रहता है :—

चलो चलो सब कोई कहे, बिरला पहुँचे कोय।
एक कनक अरु कामिनी, दुर्गम घाटी दोय॥
कंचन तजना सहज है, सहज त्रिया का नेह।
मान बड़ाई ईर्ष्या, तजनी दुर्लभ एह॥

Peace to the humanity (मानव जाति को शान्ति मिले)

नोट :—मनुष्यता के नियमानुसार यह विचार लेखबद्ध करना नहीं चाहिए था। चूंकि मैं अब जीवन की अन्तिम अवस्था पर हूँ, न कुछ किसी से गरज न वास्ता। केवल इस विचार से कि यदि जनता को वास्तविकता, सारतत्त्व व मानसिक अथवा आत्मिक लहरों का विश्वास हो जावे तो

सम्भव है कि देश का रुझान मनुष्यता या वास्तविकता की ओर हो जाये और मानव जाति को सुख, शान्ति मिल सके। इससे अधिक और कोई अभिप्राय नहीं है।

मनुष्य कौन है ?

मैं किसी से गुरु और शिष्य का सम्बन्ध नहीं जोड़ता हूँ। केवल प्रेम का सम्बन्ध रखता हूँ। मेरे एक मित्र हैं जो मुझसे प्रेम करते हैं। व्यवसाय के विचार से मैंने उनको एक ट्रक मोल लेने की सम्मति दी। उन्होंने ट्रक बनवाया और उसके ऊपर 'मनुष्य बनो' का बोर्ड लगवाया। वह कहते हैं कि अनेक प्राणी प्रश्न करते हैं, 'क्या वे मनुष्य नहीं हैं ?' उन्होंने मुझसे कहा, मेरे अपने मन में विचार आया कि बात सत्य है। क्या सब मनुष्य नहीं हैं ? मैं भी मनुष्य होता हुआ मनुष्य नहीं था। अब भी मनुष्य बनने या मनुष्य बनकर जीने का प्रयत्न करता रहता हूँ।

मनुष्य अन्य जीव-जन्तुओं की भाँति एक जीव है। समस्त जीव-जन्तु अपने मन या विचार की धार में बह जाते हैं। किन्तु मनुष्य में यह श्रेष्ठता है कि यह अपने विचार में, यदि चाहे तो बह नहीं सकता। इसलिए इस विशेष गुण के कारण यह सर्वश्रेष्ठ है। मनुष्य में सहनशीलता और विवेक, विचार का अंश प्रकृति माता ने स्वयं ही उत्पन्न किया हुआ है। जो प्राणी इससे लाभ उठाकर जी सकते हैं वह मनुष्य हैं। दूसरे मनुष्ययोनि में होते हुए भी मनुष्य नहीं हैं।

प्रत्येक जीव-जन्तु अपनी रुचि के खाद्य पदार्थ देखकर

तुरन्त ही लालायित हो जाता है किन्तु मनुष्य में समझ-बूझ, विवेक, विचार है। वर्तमान युग में मनुष्य अपने खाद्य पदार्थ, सुख-चैन, मकान आदि के लिए जो कुछ भी कर रहा है उससे सब भली भांति परिचित हैं।

अभी लिख रहा था कि एक व्यक्ति आया जो निर्धन है, तथा गृहस्थी है। उसके पुत्र, माता, पत्नी, भाई आदि हैं। उसकी माता अपने दूसरे पुत्र के भड़काये जाने पर उससे शत्रुता तथा मुकद्मेबाजी कर रही है। ऐसे ही जीवन के प्रत्येक अंग में झगड़े, बखेड़े, धोखेबाजी के अतिरिक्त है ही क्या ? व्यवसाय में देखो। घी, दूध, तेल, खाद्य प्रदार्थ इत्यादि में मिलावट। व्यापार में लोग झूठ और 420 बरतते हैं। जहाँ जिसको अवसर मिलता है वह अपने भोजन, वस्त्र, गृहनिर्माण आदि अन्य वस्तुओं के लिए अनुचित रूप में हेराफेरी करता है। राज्य विभागों में घूंस-खोरी तथा भ्रष्टाचार व राजनीतिक पार्टियों की चालें सबको मालूम हैं। केवल धर्म, पन्थ, सम्प्रदाय, मन्दिर, मसजिद तथा गुरुद्वारों से आशा की जाती थी कि सच्चाई होगी। वहाँ सांसारिक व्यवस्थाओं से भी अधिक भ्रष्टाचार है। एक पन्थ अथवा सम्प्रदाय अपनी महानता तथा बड़प्पन के लिए क्या-क्या नहीं कर रहा है। जीव विचारे भोले-भाले, अज्ञानी, निबल, अबल हैं। उनको हरे-हरे उद्यान दिखा-दिखा कर अपने पीछे लगाया गया है। इस दशा को देखकर वर्तमान युग में पूर्ण पुरुष, सन्त कबीर, गुरु नानक और राधास्वामी दयाल आदि प्रकट हुए और उच्च स्वरों में पुकार कर कह गये, कि 'हे प्राणी ! अपने को जान। तू कौन है ?' मैंने अपने आपको जानने में जीवन व्यतीत किया। जो समझ में आया वह यह है।

मानवीय अस्तित्व चैतन्यशक्ति का एक अंश है। सन्त इसको 'सुरत' कहते हैं और उसकी उत्पत्ति चैतन्यशक्ति से जो शब्द और प्रकाश है उससे बतलाते हैं और उसको अपने मन और विचारों पर अधिकार पाने का संकेत करते हैं और यह सत्य है। "सुरत" का नाम 'राधा' और "चैतन्य" के भण्डार का नाम "शब्द" तथा 'स्वामी' वर्णन कर गये और एक मार्ग जो मनुष्य के अन्दर में है उसके ऊपर चलने की सम्मति दे गये।

कबीरपन्थी, नानकपन्थी और राधास्वामीपन्थी भी अपनी शिक्षा भूल गये। इन महान् पुरुषों की बात को नहीं समझा और परस्पर वैमनस्य उत्पन्न हो गया। यह धर्मों की ही त्रुटिपूर्ण समझ थी कि विभाजन हुआ और हिन्दु, मुसलमान आपस में लड़े और मरे, कटे।

सन्तमत तथा राधास्वामी मत स्वयं गलती खा गया। इसलिए अपने ऋण और कर्त्तव्य के अन्तर्गत जो मुझ पर प्रकृति ने, दाता दयाल तथा हजूर साँवले शाह के द्वारा नियत किया, मैंने "मनुष्य बनो" की पुकार की है। हे प्राणी! अपने आपको तू जान। "राधा आदि सुरत का नाम। स्वामी आदि शब्द पहचान॥" प्रत्येक प्राणी वही है जो सब हैं। अपने अस्तित्व को समझ कर मनुष्यता पर चलो। सन्तों ने देखा कि जन-साधारण उनकी बात का विश्वास न करेंगे तो उन्होंने साधन बताया जिससे आन्तरिक आनन्द प्राप्त हो और स्वयं प्राणी को निश्चय हो जाये कि वास्तव में वह शब्द और प्रकाश का अंश है और वह सर्वाधार जिसके नाम पर सहस्रों धर्म बने एक आश्चर्यजनक (आपा) स्व-स्वरूप है जिसको कि कोई न जान सका और न जानेगा। जो उसकी खोज में निकला वह अपनी सुरत को खो गया अर्थात विस्मृत हो गया। इसलिए मैं यह नहीं

कहता कि कोई मेरी बात माने। मेरा कर्त्तव्य था और ऋण था। अपना अनुभव वर्णन कर रहा हूँ। यदि जो कुछ भी मैं कह रहा हूँ सत्य है तो संसार स्वयं युग, समय (काल) और अपनी बुद्धि (माया) के चक्कर से दुःखी होकर इधर आने को विवश होगा।

फ़र्ज़ अपना, कर्ज़ अपना, मेरे दाता और साँवले शाह।
निभा रहा हूँ बेखौफ होकर और होकर के बेपरवाह॥
न मेरी गरज है कुछ न है मतलब कोई मुझको।
आपका ही काम है जो अर्पण करता हूँ तुमको।
संसार वालो सुनो या न सुनो मगर सुनना होगा लाजिमी।
बजुज़ इन्सानियत के इन्सान हरगिज न बनेगा आदमी॥

काल से मुक्ति

दयाल पत्रिका में 'कबीर योग भाग ३' के अन्तिम पृष्ठ पर यह शब्द है :—

काल करे सो आज कर, आज है तेरे साथ।
काल काल तू क्या करे, काल है काल के हाथ॥
धीरे धीरे दिन गया, व्याज जो बढ़ता जाय।
ना हरि भजा ना ऋण भरा, काल अचानक आय॥
काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल में परलै होयगी, बहुरि करेगा कब॥
काल जीव को ग्रासही, बहुत कहूँ समझाय।
कहें कबीर मैं क्या करूँ, कोई नहीं पतियाय॥
काल हमारे संग है, किस जीवन की आस।
दस दिन राम संभार ले, जब लग पिंजर सास॥

चलता चक्की देखकर, दिया कबीरा रोय ।
दो पाटन के बीच में, साबित रहा न कोय ।।
संशय काल शरीर में, जार करे सब धूर ।
काल से बाचे दास जन, जिन पर दयाल हजूर ।।

मेरा जीवन इस दयाल और काल की उलझन में व्यतीत हुआ । वाणी के गोरखधन्धों ने और जीवन की गति ने अनेक प्रकार के खेल खिलाये । राधास्वामी दयाल ने कालमत और दयालमत के शब्द गढ़कर जनसाधारण को अपनी ओर आकर्षित किया । गुरु नानक देव ने अकाल पुरुष तथा काल पुरुष के शब्द गढ़कर अपना विचार प्रकट किया । कबीर साहिब ने भी ऐसा ही किया । दाता दयाल महर्षि शिवब्रत लाल जी महाराज ने भी मुझे इस काल के चक्र से निकलने की शिक्षा दी । एक स्थल पर मुझे आदेश देते हैं :—

काल चक्र है सहज हिंडोला, झूला अचरज न्यारा ।
सब कोई झूले झूला चढ़कर, काल झुलावन हारा ।।
चन्द्र सूर दोउ गगन में झूले, झूले नव लख तारे ।
जीव-जन्तु पृथ्वी पर झूले, नर-पशु सकल विचारे ।।
राजा झूला रानी झूली, और प्रजा समुदाई ।
ब्रह्मा विष्णु महेश्वर झूले, झूली सब दुनियाई ।।
लक्ष्मी झूली दुर्गा झूली, गायत्री महारानी ।
देवा झूले देवी झूली, जल-थल-अग्नी पानी ।।
काल भी झूला अपने झूला, सृष्टि प्रल्य कर प्यारे ।
वह भी बचा न चक्र से अपने, झूला झूले सारे ।।
चढ़ी पेंग तब ऊँचे आये, उतरी नीचे ठहरे ।
कभी मिले तो जम घट देखा, बिछुड़ के हो गये न्यारे ।।
एक दशा में नित जो बरते, कोई नज़र न आया ।
पीर, पैगम्बर, कुतुब, औलिया, ऋषि मुनि चब नहिं पाया ।।

पानी ऊपर भाप की सूरत, धाया गिरि कैलाशा।
बरफ बना धारा बह निकली, नीचे किया निवासा ॥
नीचे भी रहने नहीं पाया, फिर ऊँचे की आशा।
हम तो देखें खुली दृष्टि से, अचरज अजब तमाशा ॥
लकड़ी जलकर कोयला हो गई, कोयला राख और माटी।
माटी माटी में नहिं ठहरी, बनी काठ और लाठी ॥
विष्टा अन्न अन्न भया विष्टा; सोई सब कोई खावे।
यह प्रपंच है अद्भुत न्यारा, कोई बिरला लख पावे ॥
जाग्रत स्वप्न सुषुप्ती लीला, कभी ऐसी कभी वैसी।
यह सब काल बली की माया, कभी जैसी कभी तैसी ॥
पंडित कभी अनाड़ी होते, कभी अज्ञानी ज्ञानी।
कभी जड़ मिलजुल चेतन ठहरे, कभी चेतन जड़ जानी ॥
समुझत बने कथन नहिं आवे, मन बानी अलसानी।
कैसे कोई समझावे किसको, समझे कोई गुरु ज्ञानी ॥
एक दशा में कोई न बरते, कभी बैठा कभी दौड़ा।
कभी थका कभी सोया लेटा, काल चक्र अति चौड़ा ॥
झूले की है विचित्र कहानी, कथा वार्ता न्यारी।
नर को हम समझावन आए, सुने न बात हमारी ॥
दुःख सुख दुःख सुख द्वंद पसारा, द्वन्द से प्यार बढ़ाया।
द्वन्द भाव से जगत रचाया, द्वन्द के फाँस फँसाया ॥
मन बुद्धी और चित्त अहंकारा, सो झूले की रसरी।
दोलड़ तीलड़ चौलड़ बन कर, जीव निबल को जकड़ी ॥
जकड़े माया के फंदे में, रोये और चिल्लाये।
शोर मचाए बहु बिल्लाए, छूटन विधि नहिं पाये ॥
तब दयाल को दाया लागी, सन्त रूप धरि आया।
राधास्वामी अचल मुकामी, शालिग्राम कहाया ॥
नर शरीर में प्रकटा आकर, जीवन बहुत चेताया।
जो कोई जीव शरण में आया, अपनाकर अपनाया ॥
सन फकीर यह गुरु उपदेशा, मैं भी तुझे सुनाऊँ।

बात जो मेरी मन से माने, इस झूले से बचाऊँ ।।
खेल खिलाऊँ सुगम सुहेला, सुरत शब्द मत गाऊँ ।
काल हिंडोले से तू बांचे, बिधि विचित्र समझाऊँ ।।
कर सत्संग विवेक से गुरु का, गुरु दयाल हितकारी ।
साधु बनकर साथ ले युक्ति, जा झूले के पारी ।।
नर शरीर सुर दुर्लभ पाया, सत सङ्गत में आया ।
तेरा दाँव पड़ा है पूरा, सोच समझ तज माया ।।
अबकी चूके मौज न ऐसी; त्याग काल की आसा ।
आज का साधन आज ही करले, काल को होगा उदासा ।।
बार बार नहि अवसर आना, काल महा दुखदाई ।
जो कोई करे काल की आसा, सो पाछे पछताई ।।
राधास्वामी दया के सागर, तेरे कारन आए ।
सीस चरन में उनके झुकाकर, अपना काज बनाए ।।
राधास्वामी राधास्वामी, राधास्वामी गाना ।
मन बच कर्म से भक्ति कमाना, झूले बाहर आना ।।

समस्त जीवन इस काल के चक्र से निकलने का प्रयत्न परिश्रम, साधन, अभ्यास, योग, ज्ञान, भक्ति, कर्म, उपासना आदि किये। इच्छा थी कि जीवन की खोज का परिणाम बता जाऊँगा, इसलिए अपने कर्मभोग या मौज के आधीन यह कार्य करता हूँ। दाता दयाल के शब्द को पढ़कर पहला प्रश्न उत्पन्न हुआ कि—

फकीर ! दे बता क्या तू काल से निकल गया ?
दुनिया को न कर गुमराह, सच बता गर तू निकल गया ?
हाँ ! निकल गया, हाँ ! निकल गया, देता हूँ सत की सद
मगर वह निकलना क्या है ? यही राज़े असला ।।
जब तक नहीं राज़ मिला था, था काल में फँसा ।
राज़ मिला तब मैं काल चक्र से निकल गया ।।

वह रहस्य क्या है ? अहा !

हँस हँस हँस ओ बावले फकीरा ।
हँस हँस हँस ओ बावले फकीरा ।।

ऐ संसारी जीवो ! तुममें से सहस्रों ने नामदान लिया हुआ है । मैं भी तुममें से एक हूँ । काल से निकलना क्या है ? सुनो ! कबीर की वाणी क्या कहती है :—

संशय काल शरीर में, जारि करे सब धूर ।
काल से बाचें दास जन, जिन पर दयाल हजूर ।।

(प्रत्येक प्रकार के संशय, संदेह, भ्रम और अज्ञान से, चाहे वह शारीरिक हो, मानसिक अथवा आत्मिक, मुक्ति पा जाना ही काल से निकलना है ।) बस ! जब तक मानव एक सीमा के भीतर है वह दुःख-सुख, जीवन-मरण, बुराई-भलाई, पाप-पुण्य के प्रभावों से नहीं बच सकता है । भक्त, योगी, सोगी, रोगी, ध्यानी, ज्ञानी सबके सब इस काल की सीमा से नहीं निकल सके । क्यों ?

भक्त का भगवान उसका मन है प्यारे दोस्तो ।
योगी का योग उसका मन ही है दोस्तो ।।
सोगी के सोग अपने मन का ही ख्याल है ।
रोगी का रोग भी उसके कर्म का जंजाल है ।
ज्ञानी का ज्ञान उसका अपना ही विचार है ।
भक्त, योगी, ज्ञानी बनना अपने ही अख्त्यार है ।।
इन सबसे निकलेगा वही जिस पर दयाल हजूर है ।
वह हजूर कामिल पुरुष है, और कोई दूसरा न हजूर है ।
बगैर मुर्शिदे कामिल, जो खुद बेवहम और बेभरम हो ।
साथ ही वह अनुभव का दाता और महरमे मरम हो ।।
उसकी संगत से मिटेंगे काल व माया के झमेले ।
बिन पूरे गुरु के, दयाल पद से न होंगे मेले ।।

अब मैं सोचता हूँ कि कैसे संसार के जीवों के भ्रमों

को दूर किया जाये जब तक भ्रम, संशय, संदेह, अज्ञान प्राणी का दूर न होगा, कोई इस काल और माया से नहीं बच सकता है। दूसरे शब्दों में सुख और शान्ति को नहीं पा सकता है। चूंकि दाता दयाल ने मुझे जगत् कल्याण का कार्य दिया था। इसलिए मैंने अपने लेखों, पुस्तकों और सत्संगों में दयाल बनकर अर्थात् बिना किसी मूल्य के सच्चाई, वास्तविकता और रहस्य को खोल दिया, जिससे कि मानव जाति को वास्तविकता का ज्ञान हो और वह जगत् में भ्रम और संशयरहित होकर प्रसन्नतापूर्वक जीये और दूसरों को जीने दे। इसी विचार से मैंने पुकार की है कि मनुष्य बनो। मैंने जो कुछ किया, अपनी नीयत से केवल मानव जाति को सच्चाई और वास्तविकता के बताने के लिए किया। हो सकता है मैंने त्रुटि की हो। पर्दादारी को नहीं अपनाया। अब समय बदल गया है। नवीन युग प्रत्येक वस्तु को स्पष्ट देखना और सोचना चाहता है।

न ख्वाहिश है कोई सुने, न ख्वाहिश है कोई न सुने।
आए थे संसार में हम, बात सच्ची है कह चले।।
खुश रहो फानी जहाँ के दोस्तो, हो तुम्हारा सबका भला।
जिन्दगी के वहम सारे मिटाकर, हम तो अपने घर चले।।

संशय सन्देह, भ्रम और अज्ञान का मिट जाना ही काल से परे होना है। जो अनुभव हुआ वह कर्मभोग वश बता दिया। यह साधन अभ्यास, सुरत-शब्द योग आदि मनुष्य की सुरत को एकत्रित करते के लिए है, चरम (अन्तिम) लक्ष्य नहीं है। चरम (अन्तिम) लक्ष्य प्रत्येक प्रकार के संशय, भ्रम, सन्देह और अज्ञान को दूर करना है। वह जब दूर होंगे, किसी पूर्ण पुरुष के सत्संग से होंगे, वह भी उनके जो लोग अभिलाषा रखते हों कि हम दयाल पद को प्राप्त करें। दूसरे शब्दों में अटल सुख शान्ति की प्रबल इच्छा रखते हों।

पूर्ण बनने का सरल मार्ग

विवश हो रहा हूँ कि कुछ कह जाऊँ जग को। क्या ?

विद्वान् नहीं हूँ, वक्ता अथवा सम्पादक नहीं हूँ। मेरे टूटे-फूटे शब्दों के मर्म को समझो। आज न समझोगे तो कल को विवश इस ओर आना पड़ेगा। कैसे ? जैसे प्रत्येक जीवन के लिए मृत्यु अनिवार्य है, क्योंकि हम सब किसी पूर्ण शक्ति से निकले हैं और उसी में समाविष्ट (लीन) हो जायेंगे। पूर्णता में वापिस ले जाने वाला सतगुरु पूर्ण ज्ञान है, सार अनुभव है अथवा सार शब्द की पहचान है।

कुछ दिन हुए मैं अमृतसर गया था। वहाँ एक सज्जन ने एक बात कही थी और आज उसने पत्र भी लिखा है। वह बात यह थी कि मेरे वहाँ पहुँचने से 4 दिन पूर्व उसने साधनावस्था में जिसमें शरीर का ध्यान नहीं रहता है, देखा कि मैं अमृतसर गया हुआ हूँ और सत्संग कराया है और जो कुछ सत्संग में कहा था 4 दिन के पश्चात् जब मैं अमृतसर गया तो मैंने वही कहा जो उसने अपने अन्दर में सुना था। इस विचार से वह मुझको पूर्ण अथवा अन्तर्यामी अथवा ऋद्धि-सिद्धि वाला समझ कर विश्वास की दृष्टि से देखता है और मुझसे मिलने का इच्छुक है।

यह मेरा जीवन थोड़े दिन का है। मैं शपथपूर्वक कहता हूं कि मैं न तो उसको जानता हूँ और न मुझे इस घटना का कोई ज्ञान है। फिर रहस्य क्या है ?

प्रत्येक मनुष्य जो जिस प्रकार का और जितना जिससे प्रेम करता है और जैसा भाव रखता है, वह उसी के अनुसार अपने प्रीतम के आन्तरिक भाव और विचार को अपने भीतर उत्पन्न कर सकता है। चूंकि उसने बाह्य प्रभावों से

मेरा ध्यान किया, इसलिए विज्ञान के नियमानुसार जो कुछ मुझको कहना था वह पहिले ही जान गया। अब संसार वालो, सोचो कि भक्त बड़ा है या भगवान् या गुरु बड़ा है अथवा गुरु का दास ?

यदि मनुष्य सच्चे हृदय से उस परमतत्व आधार मालिक से सच्चा प्रेम करता है तो क्या उसके भीतर वह समस्त शक्तियाँ जो इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान हैं, नहीं आ सकती हैं ? आ सकती हैं। केवल सच्चा भाव, सच्ची लग्न, सच्चा प्रेम चाहिए। प्रत्येक मनुष्य में समस्त शक्तियाँ विद्यमान हैं। जो पिंडे सो ब्रह्मांडे। केवल मन लगाने की बात है।

"ओउम् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यह शक्तियाँ सब में उत्पन्न होती हैं, किन्तु अज्ञान के वश संसारी आशाओं और मान-प्रतिष्ठा के कारणवश नष्ट हो जाती हैं। सन्तमत में इसलिए पूर्णता को पूर्ण पुरुष के रूप में माना गया है।

आज मैं उच्च स्वर से अपने कर्मभोग अथवा मौजाधीन वर्तमान पांथिक व धार्मिक गुरुओं व महात्माओं के चरण-कमलों में सच्चे हृदय और सच्चे भाव से निवेदन करता हूँ कि वह सोचें कि वास्तविकता और सच्चाई क्या है ?

यदि यह सत्यता अन्यत्र होती तो मुझे उन्मत्त बनकर तुम्हारे जैसे अज्ञानी शिष्यों से कटी-जली सुनने की आवश्यकता प्रतीत न होती। व्यास के सत्संगी 'साची दुनियाँ' के सम्पादक का विरोध करते हैं कि 'फकीर' के लेखों को यह प्रकाशित न किया करें। अन्य विचार वाले महात्मा मुझे राधास्वामी मत का समझकर मेरे लेख व प्रवचन को सुनने से मना करते हैं।

सन्तमत अथवा मानव-धर्म सबका है, सब इसमें हैं; किन्तु अनसमझी, अज्ञान, भ्रम और संशय जो त्रुटिपूर्ण शिक्षा का परिणाम है, उसके कारण हमारा घरेलू, सामाजिक जीवन नष्ट हो रहा है। हम दुःखी हैं। प्रतिदिन के हमारे धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक झगड़े हमारे लिए विपत्तियों का कारण बने हुए हैं।

मानव के भीतर समस्त जगत् भरा पड़ा है। मनुष्य मनुष्य का मूल्य नहीं समझता है। मैं कर्मभोग अथवा मौजा-धीन अपना कार्य करने को विवश हूँ।

कहता हूं ऐ इन्सान ! तू अपनी ज़ात पहिचान तुझ में है सब कुछ भरा।
तू सब कुछ है, सब कुछ कर सकता है इसमें नहीं है झूठ जरा।
खुदा न बन ब्रह्म न बन, तू उस पूर्णता की अंश बन।
अपने जीवन को सुख से गुज़ार, गुलामी को छोड़ जरा॥

तेरे मन की लग्न में बड़ी शक्ति है। इस मन को एकाग्र कर और उस एकाग्रता से लाभ उठा। जिस वस्तु की तू खोज करता है, वह तेरा अपना स्वरूप है। इसकी सरल औषधि प्रेम अथवा प्रीति है, बस। किससे प्रेम? पूर्णशक्ति से प्रेम। आरम्भ में उसका रूप बना, उसका नाम रख, फिर उस नाम व रूप के सहारे तू अरूप और अनाम गति में प्रविष्ट हो जायेगा, यह मेरे जीवन का अनुभव है।

मैं न किसी को देता हूँ, न मुझमें लगाव व लपेट है।
सत्यता, वास्तविकता की शिक्षा मुझसे ले जाओ यह भेंट है॥
ज़ात मेरी ज्ञानदाता, ज्ञान लो मुझसे अजीज।
बात समझ कर ज़िन्दगी गुज़ारो, इन्सान बनो मेरे अजीज॥
राधास्वामी नाम मेरा, मैं हूँ प्रकटा ले सार भेद॥
बिन भेद पाये ऐ इन्सान, मिटेगा नहीं यह खेद।

जीवन में उन्मत्तता थी। इच्छा थी कि मैं समझूं कि

राधास्वामी दयाल ने अथवा सन्त कबीर साहिब ने क्यों समस्त धर्मों और पन्थों का खण्डन करते हुए उनको काल मत में बताया और अपना मार्ग दयाल मत या अकाल मत रखा। बात समझ गया और प्रसन्न हूँ। न लेना न देना। धार्मिक और पांथिक भ्रम समाप्त हुए।

इच्छा है कि जन-साधारण रहस्य को समझें और धार्मिक, पांथिक विरोध को त्याग मनुष्य बनकर जीवें और आन्तरिक साधन अथवा भक्ति करते हुए लोक अलोक पावें सुख धामा। एक दूसरे के काम आवें। घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, कीना और अज्ञान को दूर करें। यही कर्त्तव्य दाता ने दिया था। उनकी आज्ञा का पालन कर दिया, आगे मौज।

सूचना में आवश्यक संशोधन

परम सन्त परम दयाल फकीर चन्द जी महाराज की जन्म॰ शताब्दी के पुनीत अवसर पर परम सन्त हजूर मानव दयाल डा॰ ईश्वर चन्द्र शर्मा जी महाराज का सत्संग प्रोग्राम इस प्रकार है :—

18, 19 नवम्बर 86	मानवता मन्दिर, होशियारपुर।
	सत्संग प्रातः काल 9 से 11 बजे तक
	सायं काल 3 से 5 बजे तक
20 नवम्बर	सलवान पब्लिक स्कूल ओल्ड राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली।
	सायं काल 3 से 5 बजे तक
23 नवम्बर	सनातन धर्म सभा; चंडीगढ़।
	प्रातःकाल 9 से 11 बजे तक

पूछताछ :- श्री त्रिलोक चन्द जी, H. No. 4 सेक्टर 19 A, चंडीगढ़।

एस॰ एल॰ सेठी जनरल सेक्रेटरी, मानवता मन्दिर होशियारपुर।

सत्संग परमसन्त

हजूर मानव दयाल जी महाराज

मानवता मन्दिर होशियारपुर

दिनांक 28-9-86

शब्द

प्रेम नगर के डगर में सजनी, सिर के बल तू आव री।
प्रीत रीति अमृत रस मीठा, हित चित मन कर्म पाव री ;
जग का फीका स्वाद त्याग दे, मान बचन मेरा बावरी।
मानुष देह दया से पाया, फिर नहिं ऐसा दाव री;
नर शरीर सुर को भी दुर्लभ, सुगम सुगाध सुभाव री।
जैसे बने तैसे कर ले कमाई, मन धर भक्ति का भाव री ;
घट में प्रगट गुरु की लीला, निरख परख हरषाव री।
अन्तर में तेरे नौबत झड़ती, धँस चल सहित हियाव री ;
अनहद बानी मंगल खानी, नित प्रति निशदिन गाव री।
राधास्वामी दया की मूरत, साँचे दिल दरियाव री ;
चरण कमल की ओट पकड़ ले, सूझे सुगम उपाव री।

सर्व-वेदान्त-सिद्धान्त - गोचरं तमगोचरम् ।
गोविन्दं परमानन्दं सद्गुरुम् प्रणतोऽस्म्यहम् ।।
परमतत्त्वस्य अवतारम्, दाता दयालस्य प्रियतमम् ।
मानवस्य परम् इष्टम्, फकीरं वन्दे जगद्गुरुम ।।

राधास्वामी !

मेरी अपनी ही आत्मा के स्वरूप सत्संगी भाइयो और बहनो, आज आप का यहाँ आना आपकी एक परीक्षा थी, क्योंकि मौसम खराब था। लेकिन जिसके दिल में प्रेम है, उमंग है, वह मौसम को नहीं देखता। यह चरित्र की बात है। चरित्र क्या है ? यह एक प्रश्न है लोग कहते हैं चरित्र अच्छा होना चाहिए ठीक है। पर चरित्र है क्या ? क्या चरित्र खाने-पीने में है ? या कपड़े पहनने में है ? यह सब चरित्र नहीं है। ये सब चरित्र के फुटकल कर्म हैं। चरित्र रहनी में होता है। नारायण दास जी को 'रहनी' शब्द बहुत पसंद है। आप की रहनी आप के चरित्र का नमूना हो सकती है, लेकिन चरित्र क्या है ? पहले यह समझना चाहिये। मैं चालीस साल यही पढ़ाता रहा कि चरित्र क्या है। क्या सिगरेट पीना चरित्रहीनता है ? क्या हुक्का पीना खराब चरित्र की निशानी है ? क्या हम शराब पीने को चरित्रहीनता कह सकते हैं ? यह बात नहीं है। हाँ, शराब पीने वाले की मृत्यु जल्दी हो जाती है। क्योंकि शराब ज़हर है।

मेरा एक अच्छा मित्र था, चन्द्र देव नाम था उसका। विश्वविद्यालय में फर्स्ट आता था। हमारे साथ बीकानेर में प्रोफेसर था। बहुत अच्छा कवि भी था। उसे शराब पीने की आदत पड़ गई थी। शराब की आदत दोस्ती-यारी में जग जाती है। उसके साथी पीते थे, तो वह भी पीने लगा। पहले एक-आध पेग से शुरू कर के फिर आहिस्ता-आहिस्ता बोतलों तक पहुँच गया। अब उस की सारी तनख्वाह शराब में जाने लगी। घर में उसके छोटे-2 बच्चे व पत्नी कष्ट में रहते। नौबत यहाँ तक पहुँची कि ट्यूनोल की गोलियाँ खाने लगा। आठ-आठ गोलियाँ खा जाता। उसका खून इतना

जहरीला हो गया था कि साँप उसे काटे तो साँप ही मर जाता था, उसे कोई अमर नहीं होता। मुझे उसकी इस हालत का पता नहीं था। एक बार कालेज में सब प्रोफेसर बैठे हुए थे। आदर्शों की बात चल पड़ी। कोई कहता, मेरा आदर्श गाँधी है, कोई कहता, मेरा आदर्श जवाहर लाल; कोई कहता विनोबा; कोई कहता सिकन्दरे आजम; कोई पोरस को अपना आदर्श बताता। लेकिन वो कहता था "मेरा आदर्श गधा है" गधा क्यों ? भई गधा अपनी धुन का पक्का होता है। चाहे लाख मारो-पीटो, वह टस से मस नहीं होता। कहने लगा, "जितने मेरे अध्यापक पढ़ाने वाले मिले, वे सब गधे ही थे।" व्यंग्य करने में माहिर था। कविता भी व्यंग्यात्मक लिखता। कभी अपने आप पर भी लिख देता 'भूत बनूंगा, भूत बनूंगा। मरघट तक तो भगा चलूंगा, भगा चलूंगा।' मेरा कहने का मकसद यह है कि इतना शिक्षित, विद्वान् और कवि होते हुए भी उसकी शराब पीने की आदत उसका जीवन ले डूबी। मैं जैपुर में महाराजा कालेज में पढ़ाता था। वहाँ एक बार कवि-सम्मेलन हुआ। उसमें वह भी आमंत्रित हुआ और उसका एक मित्र छत्रपति था, वह भी आया था। तो मित्रता के नाते मैंने उसे कह दिया "भाई चन्द्र देव, आज रात में भोजन हमारे घर कर लेना।" मैंने अपनी पत्नी से कहा, "तीन आदमी का खाना तैयार रखना, हम ग्यारह बजे तक आएँगे।" कवि सम्मेलन की अध्यक्षता मेरे एक मिनिस्टर मित्र अमृत लाल यादव कर रहे थे। कविता करने के नाते मैं भी मंच पर बैठा हुआ था कविता का दौर चलता रहा। मैंने क्या देखा कि चन्द्र देव कविता पढ़ते-पढ़ते बीच-बीच में हर आधे घंटे के बाद उठ कर बाहर जाता। मैंने पता किया तो मालूम हुआ कि वह ट्यूनोल की गोलियाँ खाता है। जब कवि सम्मेलन खत्म हुआ और हम चलने लगे तो कहने लगा

"भाई शर्मा, मुझे तो रोटी हज़म नहीं होती; मुझे पहले शराब चाहिये।" मैंने कहा 'अच्छा चलो'। पास में एक होटल था वहाँ शराब मिलती थी। उसने एक बोंतल ली और वहीं पी कर नशे में डूब गया। रात का एक बज गया था। रिक्शा किया और उसे बिठाया और घर को चले तो रास्ते में गिर गया। मैंने तो समझा कि मर गया पर छत्रपति बोला कोई घबराने की बात नहीं, यह तो रोज ही इस के साथ होता है। उधर भाग घर में खाना बना कर बैठी इन्तज़ार कर रही थी लेकिन जिसे खाना खिलाना था वह तो इन्सान के बदले लाश था। घर पहुँच कर उसे पलंग पर लिटा दिया। अब मैं कहूँ कि डाक्टर को बुलाऊँ, यह कहीं मर न जाये। छत्रपति कहने लगा कुछ करने की ज़रुरत नहीं इसे तो यह रोज होता है। फिर हमने तो खाना खा लिया। वो वैसे ही पड़ा रहा। प्रातःकाल मैं उठा और अपने समय से कालेज चला गया। सोचता रहा कि इस की बीबी-बच्चों पर क्या बीत रही होगी। फिर वह कोई दो बजे के करीब उठा तो खाना खाया। आधे घण्टे बाद फिर गोली खा ली और फिर गिर पड़ा। किसी न किसी तरह उसे रिक्शे पर बिठा कर उसके घर छोड़ा। मुझे बहुत दुःख हुआ उसकी हालत पर। शराब पीने से गुर्दे खराब हो जाते हैं, जिगर, फेफड़े सब खराब हो जाते हैं और कम उमर में ही मृत्यु हो जाती है।

एक बार दिल्ली में कवि सम्मेलन हुआ तो हम रेल गाड़ी से दिल्ली के लिए चले। चन्द्र देव भी साथ था। रास्ते में वह बेहोश हो कर धड़ाम से गिर गया। हम बड़े घबराये कि अब क्या करें। मालिक की कुदरत से उसका एक भाई स्टेशन में मुलाज़िम था। उसने उसे इस दशा में देखा तो उठा

कर घर ले गया और डाक्टर को बुलाया। उसकी नब्ज एक दम बन्द हो गई थी। डाक्टर ने उसे मृत घोषित का दिया। जब लोगों ने श्मशान में उसे चिता पर लिटाया तो वो उठ बैठा। इतनी शोचनीय उसकी दशा हो गई थी। 35-36 साल की उम्र में उसकी मृत्यु हो गई। यह अंजाम है शराब पीने का। मेरा कहने का तात्पर्य (मतलब) यह है कि शराब पीना चरित्रहीनता हो या न हो, पर मौत का निमंत्रण तो है ही। मैंने यह सब इसलिये बताया कि मैं जानता हूँ कि यहाँ कुछ शराब पीने वाले बैठे हुए हैं, यह मुझे मालूम है।

तो चरित्र किसे कहते हैं? चरित्रवान् व्यक्ति की विशेषता यह होती है कि वह हमेशा एक असूल पर चलता है। 'मंत्रमूलम् गुरोर्वाक्यम्' उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है। उसका चरित्र उसे प्रेरित करता है गुरु के वाक्य पर अटल रहने के लिये। वह मर जाएगा पर अपने आदर्श को नहीं बदलेगा। गुरु मंत्र उसके चरित्र का अंग बन जाता है। और वह अपने सिद्धान्त पर इतनी दृढ़ता से चलता है कि लोगों को यह मालूम हो जाता है कि यह क्या करेगा। जब हम जान जाते हैं कि इस व्यक्ति का चरित्र ऐसा है तो उस के बारे में सन्देह नहीं रहता। इसका क्या मतलब? यह कि हम एक चरित्रवान् व्यक्ति के व्यवहार को पहले ही जान सकते हैं क्योंकि उस में एक (Constancy) दृढ़ता रहती है। जो कदम-कदम पर बदले वह चरित्र नहीं है। दुनिया बदल सकती है, लेकिन चरित्रवान् का रास्ता नहीं बदल सकता। जो क्षण-क्षण में बदलता रहे वह तो चरित्र नहीं है। चरित्र-वान् की संकल्पशक्ति बढ़ जाती है और उसकी संकल्पशक्ति से उसके सभी कार्य सिद्ध होते रहते हैं। जिसमें संकल्पशक्ति नहीं, वह चरित्रवान् नहीं हो सकता। बाकी बातें, कि वह सिगरेट पीता है या नहीं, कैसे कपड़े पहनता है, क्या खाता

है, यह सब गौण हैं। यह चरित्र में नहीं शामिल होते। तो यह बात तो सिद्ध हो गई कि आप चरित्रवान् हैं।

इस मार्ग में जो सहज मार्ग है, सिर के बल चलना पड़ता है। यह कठिन भी है और सहज भी है। राधास्वामी मत या सुरत-शब्द योग का यह रास्ता सुगम है और सर्वोपरि है। इस सर्वश्रेष्ठ मार्ग के सामने जितने भी दूसरे मार्ग हैं सब फीके पड़ जाते हैं। महाराज जी भी कहते हैं और स्वामी जी भी कहते हैं कि जितने मार्ग वेदान्त, मीमांसा, सांख्य, पूजा, कर्मकाण्ड आदि के हैं, ये सब उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये बने हैं। स्वामी जी महाराज ने हिदायतनामा में बहुत सुन्दर व्याख्या दी है। कहा है कि हमें अन्दर में धँसना है, पहले तीसरे तिल से चल कर सहस्रदल कमल से गुजरना है जिसमें विश्वव्यापी मन की हजारों कलाएँ, हजारों पंखुड़ियों के रूप में, जगह-जगह पर अपनी लीला करती हैं। बड़े सुन्दर दृश्य हैं। इस स्थान पर गुरु की आज्ञा के साथ चलना होता है। सद्गुरु का साथ जरूरी है और सद्गुरु ऐसा हो जिसे खुद इसका अनुभव हो, किताबी ज्ञान से कुछ नहीं होता। उस रास्ते में कभी ऊपर कभी नीचे, कभी बंक नाल कभी घोर अन्धेरा यह सब आयेगा। इसलिए गुरु ऐसा हो जो स्वयं उस रास्ते से गुजर चुका हो। सद्गुरु, सत्संग और सतनाम बहुत जरुरी हैं। सद्गुरु को रिझाने के लिये जिज्ञासु में सच्ची लगन होनी चाहिये। इस राह में आने के लिये तड़प और तपन करारी होनी चाहिये। अगर आप को भूख नहीं है तो अच्छे से अच्छा भोजन भी बेकार है। प्यास के बिना उत्तम से उत्तम पेय भी आप नहीं पी सकते। एक चरित्रवान् व्यक्ति में इष्ट के प्रति तड़प होती है, तड़प नहीं तो गुरु कुछ नहीं कर सकता और इस राह पर चलने वाला मालिक के बिरह में तड़पता है। सारे जगत में उसे कहीं भी

चैन नहीं मिलता । विरही को अपने पूर्ण पुरुष से ही प्रेम और सत्पुरुष की ही तलाश होती है । सत्पुरुष मालिके कुल कौन है ? जो मुकम्मल है, जिसमें कोई कमी, कोई त्रुटि नहीं है । पर लोग तो गुरु को देह मान लेते हैं और उसे नामुकम्मल समझते हैं । फिर आप मुकम्मल कैसे बन सकते हैं ? पहले गुरु को पूर्ण मानो । वह है भी पूर्ण । जब आप गुरु को पूर्ण मानते हो तब 'मंत्रमूलम् गुरोर्वाक्यम्' होगा और अगर आप ने अपनी बुद्धि लगाई तो भल होगी वहाँ बुद्धि नहीं लगती और अगर आपने अपनी बुद्धि लगाई तो भूल होगी और धोखा खाओगे । महाराज जी तो साक्षात् परमतत्त्व के अवतार थे और बड़ेप्रेम से सच्ची बात कहते थे । उनकी बात पर अमल करनेसे दुनिया की कोई ताकत आपके रास्ते में रूकावट नहीं डाल सकती । ऐसे पूर्ण सद्गुरु थे वे जो हर तरह से मुकम्मल और पूर्ण पुरुष थे । पुर्ण तो आप भी हो, जो अपने में कमी महसूस करता है वह भूला हुआ है; उसे अपनी पूर्णता का पता नहीं चला, है तो वह पूर्ण । हीरा गन्दी नाली में पड़ा है, उस पर मैल चढ़ी हुई है; पर है तो वह हीरा । ऐसे ही आप अपने को अपूर्ण मान मेते हो, पर आप मुकन्मल और पूर्ण हो । आप सब हीरा हो । हाँ, मैल चढ़ा हुआ है मल की वजह से अपने को अपूर्ण समझ बैठे हो । नामुकम्मल क्यो ? तीन चीजे हैं जिनके कारण हम अपने आप को नामुकम्मल सपझते हैं । एक तो शरीर है, शरीर सत् है । हम देखते हैं कि शरीर को कभी सुख और कभी दुःख हो जाता है, बीमारी हो जाती है; होना नहीं चाहिये । अयर विचार करें तो आप को मालूम होगा कि आप ने कहीं कोई गलती की होगी, चाहे वह शारीरिक भूल हो, या मानसिक जिसके कारण कष्ट या बीमारी हई । उसे मिटाया जा सकता है । लेकिन दार्शनिकों की तरह या ब्रह्मवादियों की तरह यह कह देना कि जगत् है

ही नहीं दुःख है ही नहीं, यह गलत है। दूसरी कमी हम मन की निर्बलता के कारण महसूस करते हैं। मन चित् है। गलत संकल्प के कारण हमारा मन रोगी हो कर अबलता महसूस करता है। महाराज जी अपना अनुभव बता रहे थे और फिर कहते हैं, "मैं यह नहीं कहता कि मेरा अनुभव ही अन्तिम सत्य है।" हालाँकि उन्होंने जो कुछ कहा वह अन्तिम सत्य था। यदि उनकी बात को मान कर चलें तो आप को साधन की कोई ज़रूरत नहीं। दाता दयाल जी भी फरमाते थे :—

'जब लग न देखो अपने नैना, कभी न मानो गुरु के वैना'

और साथ ही यह भी कहा "मंत्रमूलम् गुरोर्वाक्यम।" इस बात को समझने के लिये सत्संग की बहुत जरूरत है। गुरु की बात पर चलने के लिये साहस चाहिए। मुशिकल से किसी में यह साहस होता है। अभी जितने आचार्य मैंने बनाये जो मेरे प्रिय हैं, मैं नहीं कह सकता कि उनमें कोई भी मेरी परीक्षा में पूरा उतरता है। भ्रांति हो जाती है। 'जब लग न देखो अपने नैना' का मतलब यह नहीं समझना चाहिये कि गुरु ने जो कहा है वह गलत है। गुरु ने तो अनुभव कर के जो कहा वह सत्य कहा। परम दयाल जी ने दाता दयाल जी से हद दर्जा प्रेम किया, सेवा भी पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। और अन्त तक दाता दयाल जी के बचनों को निभाया। दाता दयाल जी से उनका विश्वास कभी नहीं हटा। यद्यपि कि "सार बचन" में उन्हे लगता कि सनातन धर्म का खण्डन है; राम, कृष्ण आदि सबका खण्डन है। फिर भी वो दाता दयाल के बचनों पर चलते गये, चलते गये, और अन्त में देखा कि दाता दयाल जी ने जो कुछ कहा वहसौफीसदी सत्य है। लोग अपनी बुद्धि लगाते हैं। मन तो स्वभावत: सच को झूठ और झूठ को सच मान बैठता है। तर्क-वितर्क, काट-छाँट करता है। पर यह वास्तविक ज्ञान नहीं है। ज्ञानी तो वह है जिसकी

बुद्धि-मति धीर है, ठहरी हुई है, मालिक में टिकी हुई है। वह मालिक के प्रेम में डूबा हुआ सब जगह मालिक को देखता है।

में स्वयं बुद्धिवादी तार्किक था। बुद्धिपरक व्यक्ति को सन्देह होता है। पर उसका सन्देह सच्चा होता है। अमरीका में मैं महाराज जी के साथ बैठा हुआ था। तो अलख-अगम-अनामी धाम की बात चल रही थी। मैंने कहा, "महाराज जी" अनामी धाम के परे एक और पद है! " मैंने शतपथ ब्राह्मण भाष्य खोल कर उनके सामने रख दिया " उसमें अनामी धाम से ऊपर का जिक्र है। उन्होंने बड़े प्रेम से "दयाल" रसाला डा० परसराम से माँगा और मेरी ओर बढ़ाते हुये कहा 'इसे देखो' मैंने देखा, उसमें भू र्भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम् अलख, अगम, अनामी के ऊपर राधा-स्वामी और फिर सब से ऊपर सूर्य में "दयाल" लिखा था। मैंने उन्हें नमस्कार किया और अपना सद्गुरु मान लिया। बद्धिपरक व्यक्ति में आदर-भक्ति हो तो ठीक है। बिना समझे गुरु की नकल नहीं करनी चाहिये। गुरु ने प्रयोग और साधन से अनुभव करके बता दिया कि यह बात ऐसे नहीं ऐसे है। अब तुम स्वयं गुरु की वाणी पर चल कर तजुरबा करो। जब अनुभव हो जाएगा तब कहोगे कि गुरु ने ठीक कहा था। महाराज जी ने तजुरबा करके देख लिया कि सन्तों ने जो कुछ कहा है सौफीसदी सच कहा है। अगर मेरा तजुरबा यह बताता कि सन्तों ने गलत कहा है, तो मैं उनके विरुद्ध ज़हर उगल जाता। सतपुरुष का तजुरबा आपके लिये एक अनुभव सिद्ध नमूना है। ज्ञान तो ऊँचे से ऊँचा है, पर सच्चा ज्ञानी वह है जो यह जानता है कि वह कुछ नहीं है। वह जानता है कि उसका ज्ञान पूर्ण नहीं है। जिद्दी बुद्धिवादी की अपेक्षा मूढ़ भक्त अच्छा है। लेकिन अगर केवल मूढ़ है, अन्ध-विश्वासी

है, समझ है ही नहीं; यह भी गलत है। उसका विश्वास भी अपूर्ण होगा; कच्चा होगा। एक आदमी एक भक्त के पास गया और बोला "तुम्हें एक नई बात सुनायें। मालिक परम पुरुष ने आज एक बड़ी अजीब बात कहीं।" पूछा "क्या ?" बोला, आज उसने एक सुई के नाके से एक हाथी गुजार दिया। कहने लगा, यह तो हो ही नहीं सकता। यह कैसे हो सकता है ? वह आदमी एक नास्तिक के पास गया जो ईश्वर को नहीं मानता था। लेकिन वह सच्चा था। उसको भी कहा "भाई मालिक ने एक सुई के नाके हाथी गुजार दिया।" नास्तिक बोला, "हाँ" उस उल्लू के पठ्ठे ने यह जरूर किया होगा। वह ऊटपटाँग करता रहता है।" कहने का मतलब यह कि कोरा ज्ञान भी ठीक नहीं होता। प्रेम आवश्यक है। जिसमें प्रेम नहीं, वह सच्चा ज्ञानी हो नहीं सकता। वह अंहकारी होगा। जो हृदयहीन होता है वह सख्त होता है। हृदयहीन अध्यापक छात्रों को फेल ज्यादा करता है और नम्बर मुश्किल से देता। मैने अपने जीवन में कभी किसी छात्र को फेल नहीं किया। क्योंकि मैं स्वयं कभी फेल नहीं हुआ। जो फेल होते हैं, वे ही ज्यादा छात्रों को फेल करते हैं। मेरे छात्र कभी फेल नहीं हुये। जो अध्यापक बच्चों से प्यार नहीं करता, वह ठीक तरह से पढ़ा भी नहीं सकता। प्यार जरूरी है। वास्ताविक ज्ञान भी प्रेममय होता हैं। बुद्धि विभेद पैदा करती है अलगाव करती है और प्रेम मेल और एकत्व पैदा करता है। मालिक की भक्ति प्रेम मार्ग है। प्रेम करने वाला एक हो जाता है। प्रेम अपने आपे को भूल जाता है। जो अपने आपे को भूल नहीं सकता, वह प्रेम नहीं कर सकता, न वह मालिर से मिल सकता हैं। जो मालिक से प्रेम करता है उसे कभी कोई नुकसान हो नहीं सकता।

'आजा गुरु की शरणाई में, सब बिधि हो कल्याण री'
मेरी सुरत सहेली।'

सतगुरु तो गारन्टी देता है, लेकिन कोई लेना नहीं चाहता। जो हरदम अपने बारे में ही सोचता रहता है, वह प्रेम नहीं कर सकता। प्रेमी तो अपने आप को बिल्कुल भूल जाता है। जो जिससे प्रेम करता है वह उसी का रूप बन जाता है। वह उसमें समा जाता हैं और प्रीतम उसमें समा जाता है। ज्ञान की कमी प्रेम से पूर्ण होती है। अगर आप में प्रेम है तो आप में कोई कमी नहीं रह सकती।

तीसरी कमी हम महसूस करते हैं सुख की। अधिक से अधिक समय हम सुख चाहते हैं। वह सुखकौन सा हो सकता है? 'सुख-दुःख से एक परे परम सुख।' हमारी अपूर्णता हमें बताती है कि जिस चीज़ की हम कमी महसूस कर रहे हैं, वह चीज़ कोई है अवश्य। वही है आप का आत्म तत्त्व जो आनन्द रुप है। सच्चा धर्म वह रास्ता है, पथ हैं, मार्ग है जिसको अपनाने से ये तीनों कमियाँ आपने आप पूरी हो जाती हैं। अनेकों सिद्धान्त हैं लेकिन सब के सब इन तीन कमियों को पूरा करने में ही रह जाते हैं। इनसे परे चौथा पद वह है जो सन्त मत दरशाता है, इसलिए सन्त मत श्रेष्ठ है। वह ही पराकाष्ठा है, सब से ऊँची अवस्था है। महाराज जी ने कई बार कहा है कि पिया को मिलना है। वह पिया है कौन? क्या तुम्हारी जायदाद पिया है? क्या तुम्हारी दौलत पिया है? तुम तो इन्हीं को पिया माने बैठे हो! वह पिया तो अपने आप में बैठा है। वह निज अवस्था है अपनी। इस लिये यह रास्ता है तो बहुत सहज, लेकिन कठिन इसलिये है कि उसकी शर्तें हैं। क्या शर्तें है?

''विषयों से जो रहे उदासा, परमारथ की जा मन आसा।
धन सन्तान प्रीत नहिं जाके, जगत पदारथ चाह न ताके।'

अब लोग यह समझने हैं कि विषयों से उदास होने के लिये भगवे कपड़े पहन कर योगी हो जाओ। यह बात नहीं है। या यह समझ लेते हैं कि दुनिया कुछ है ही नहीं और मुँह लटकाए रहते हैं। मेरे प्यारे, यह तो आनन्द का मार्ग है। जो हँसता नहीं वह सन्त नहीं। हँसना सन्तपना है, रोना भी सन्तपना है। महाराज जी कितनी बार रो पड़ते थे? उनसे बड़ा कोई सन्त होगा? हँसना-रोना ही मानवता के भाव हैं। किसी का दुःख देख कर मनुष्य ही रोता है, पशु नहीं रोता। आप कई बार सत्संग सुनते-सुनते रोने लगते हैं क्योंकि आप के अन्दर वह भाव जागृत हो जाता है। तो उदास का मतलब है कि विषयों में फँसे नहीं। विषयों का दास न बने, उ+दास=ऊपर का दास अर्थात् मालिक का दास बने। विषयों के बिना तो आप रह नहीं सकते। पर विषयों में फँसना नहीं चाहिए। विषय क्या है? कान का विषय-सुनना, जिह्व का विषय-चखना, नाक का विषय-सूँघना, त्वचा का विषय-स्पर्श, आँख का विषय-देखना। तो विषयों का मतलब इनको त्यागना नहीं है, हाँ इनमें फँसना नहीं चाहिये।

परमार्थ क्या है? कूएँ और हस्पताल बनवा देना परमार्थ नहीं है। अगर कोई आध्यात्मिक या परमार्थिर सस्था कोई बहुत बड़ा हस्पताल बनवा देता है तो यह कोई परमार्थ नहीं है। सच्चा सन्त या परमार्थी तो अपने रेडियेशन से तुम्हारी बीमारी ठीक कर देगा, उसे हस्पताल की क्या जरूरत है? बड़े-बड़े धर्मशाले बनवा देना कोई परमार्थ नहीं है। सच्चा परमार्थ है आखिरी मंजिल की राह लगा देना। मालिक की मंजिल प्यार की मंजिल है। उस मंजिल पर पहुँचा देना सच्चा परमार्थ है।

धन-सन्तान को मालिक के हवाले करना ही परमार्थ

है। अपना कर्तव्य करते हुए मालिक के रास्ते में लगो। कहाँ तक धन-सन्तान में अपने आप को फँसाओगे ? बेटे, पोते, परपोते, नाती, परनाती कहीं अन्त नहीं। इसलिये धन-सन्तान आये या जाये, तुम चिन्ता मत करो। हाँ, अपनी तरफ से उनकी भलाई करो। :—

'तन इन्द्री आसक्त न होई, नींद भूख आलस जिन खोई।'

ये निशानियाँ हैं उनको जो इस रास्ते पर आने वाला है। इन्द्रियाँ काम तो करेंगी, लेकिन इनमें ही आसक्त रहना खाना-पीना परमार्थ नहीं है। निद्रा परमार्थ का बड़ा दुश्मन है। नींद, आलस और भूख पर परमार्थी का नियंत्रण होना चाहिये।

'विरहबान जिस हिरदय लागा, खोजत फिरे साध गुरु जागा।'

जिसको मालिक के विरह की तपन है वह नींद, आलस, भख त्याग कर सतगुरु को खोजता फिरता है। वह मालिक के प्रेम में लीन रहता है। प्रेम के जागृत हो जाने से वह सतगुरु के पास आने का पात्र बन जाता है, जिसमें यह गुण नहीं है वह मालिक के रास्ने पर नहीं चल सकता।

'साधु फकीर मिले जो कोई, सेवा करे करे दिल जोई।'

सेवा प्रेम से होती है। सेवा जिसने की उसके अन्दर सभी लक्षण अपने आप आ जाते हैं। गोपाल दास में यह विशेषता थी कि वह मेरे पास सोता था और मैंने जहाँ कदम नीचे रखा कि वह तुरन्त उठ बैठता था। 'नींद कहाँ पी की आहटगे'

'ऐसी करनी जाकी देखे, आप आय सत्तगुरु तिस मेलें।'

जिसके अन्दर यह प्रेम भाव और तड़प है उसके लिये खुद परम तत्व अवतार ले कर आता है। और उसको आपने साथ लगाता है।

'सतगुरु बचन सुने जब काना, उमगा हृदय प्रेम समाना।'

सतगुरु भी तो प्रेम स्वरूप होता है। उसके बचन सुनने से जिज्ञासु का हृदय भी प्रेम से भर जाता है, और प्रेम में लीन रहता है। यह प्रेम का रास्ता है, प्रेम के लिये है और प्रेम के द्वारा है।

'सतगुरु से जब प्रीत लगावे, दया मेहर उनकी कुछ पाये।'

महाराज जी कहते थे कि भाई तुम जब मुझसे प्रेम करते हो तो मुझे भी करना पड़ता है। कितने सत्संगों में कहा कि नारायण दास मुझे तेरी फिकर है। जिसका निःस्वार्थ प्रेम सतगुरु से होगा उस पर उनकी मेहर दृष्टि होगी, उसकी मेहर से सब कुछ हो जाता है। सन्तमत आशावाद का मार्ग है। निराशा का इसमें कोई स्थान नहीं है।

'खुश मुजस्सम, खुश है दिल का, रूह का वह शाद है।

इस अवसर को हाथ से जाने नहीं देना चाहिये क्योंकि मनुष्य देह देवताओं को भी नसीब नहीं होती। सूर्य देवता करोड़ों वर्षों तक तपते प्रकाश देते रहेंगे। लेकिन मनुष्य सतगुरु से प्रेम करके सीधा निजधाम जा सकता है। देवताओं में संकल्प की शक्ति नहीं है। संकल्प शक्ति केवल मनुष्य में है। यही उसकी पूर्णता की निशानी है। वह अपने संकल्प से एक ही जन्म में मोक्ष पाकर निजधाम जा सकता है। दाता दयाल जी महाराज चेतावनी दे रहे हैं कि जिसको मनुष्य जन्म मिला है उसे यह अवसर कभी भी खोना नहीं चाहिये।

"नरदेही भव सागर तरनी, दया से हाथ में आई।
जो कोइ इसका सार न जाने, विरथा जन्म गँवाई।।"

सतगुरु ने आसान से आसान रास्ता बता दिया जिस पर चलने में कोई कठिनाई नहीं, कोई खतरा नहीं। सहज-सहज में भव सागर से पार उतर जाना है। सिर्फ अपने अहंकार

को हटा कर गुरु के शरणागत हो जाने की ज़रूरत है।

'जैसे बने तैसे कर ले कमाई, मन धर भक्ति का भाव री
घट में परगट गुरु की लीला, निरख परख हरषाव री।।'

यह सुरत शब्द का साधन सहज सुगम है। इसमें कोई कष्ट नहीं। जैसे आसानी हो आराम से साधन करके अपना काम बना लेना है। महाराज जी सो कर के भी साधन करते थे। कोई कठिनाई की ज़रूरत नहीं।

'घट में प्रगट गुरु की लीला, निरख-निरख हरषाव री।'

सारी लीला आप के घर में हो रही है, आप प्रेम से देख सकते हो और आनन्द का जीवन बिता सकते हो। सौर मंडल की सैर सन्त रोज़ करते हैं। अन्दर की लीला देख लेने पर बाहर की लीला में रुचि नहीं रहेगी। महाराज जी एक बार दिल्ली में जा रहे थे कार में इण्डिया गेट से तो एक सज्जन उनके साथ बैठे हुए थे। कहने लगे "महाराज जी, देखिये कितना सुन्दर दृश्य है। "महाराज जी कहने लगे, "अरे तू बाहर के नज़ारों में फँसा है? अन्दर के दृश्य नहीं देखे। बाहर के नज़ारों में क्या धरा है? अन्दर चल।" मालिक के साथ लगो, सब कुछ सुगमता से सध जाएगा। पहले मैं भी कारों में दौड़ता था, अफसरों से मिलता-जुलता था। पर अब कमरे से बाहर निकलने को जी हो नहीं करता। सब काम अपने आप ही बैठे बिठाए होते रहते हैं। कहीं जाने की ज़रूरत ही नहीं रही। लोग समझते नहीं, यह बन्धन इस-लिए है कि इस बन्धन में मुक्ति है। मालिक के बन्धन में जो नहीं आयेगा। उसके लिये संसार के बन्धन हैं। उसके लिये मुक्ति नहीं है। मुक्ति मालिक के बन्धन में बँध जाने से ही मिलती है। बड़े-बड़े हँस- परम हँस ऊपर के लोगों में सुन्न, महा सुन्न, भवँर गुफा में बैठे हुए हैं। जब कोई सन्त उस मार्ग से जाएगा तो उनके साथ लग कर बाकी की करनी पूरी

करके परमधाम की जायेगे । इसलिये सीमा के अन्दर रहते हुए सीमा से बाहर जाना है ।

'राधास्वामी दया की मूरत, साँचे दिल दरियाव री ।
चरन कमल की ओट पकड़ ले, सूझे सुगम उपाव री ।।'

राधास्वामी दयाल दरिया दिल हैं । उनके यहां कोई कमी नहीं, कौन सी चीज़ है जो उन्होंने नहीं दी । दयाल की शरण में जाने से काल कुछ कर नहीं सकता । काल पामाल हो जाता है । महाराज जी ने स्वयं दो बार तो मारकेश को काटा । सतगुरु के चरणों में झुक जाने से, अहंकार तज देने से आप का सारा भार सतगुरु स्वयं ले लेते हैं लोक-परलोक दोनों बन जाते हैं । सब को राधास्वामी ।

अति आवश्यक सूचना

अक्टूबर के मानव मन्दिर में परम दयाल शताब्दी देहली में होने वाले सत्संग के सम्बन्ध में ग़लत सूचना छप गयी थी यह सत्संग केवल 20 नवम्बर 1986 को सायंकाल सलवान पब्लिक स्कूल ओल्ड राजेन्द्र नगर देहली में आयोजित होगा, 21 नवम्बर को नहीं होगा ।

जनरल सेक्रेटरी

आवश्यक सूचना

सब सत्संगी भाई बहनो को यह सूचित किया जाता है कि अबके पहली बार हजूर मानव दयाल जी महाराज का सत्संग उनके निजि घर मकान नं 72 सैक्टर 21 बी (21-B) फ़रीदाबाद में 7 दिसम्बर इतवार को साड़े ग्यारह बजे हो रहा है। सत्संग के बाद दोपहर का खाना भी परोसा जायेगा, सभी सत्संगियों को खाने का न्योता है। (महाराज जी की ओर से)।

देहली के आस पास के शहरों और देहली से आने वाले सत्संगियों के लिए यही उचित होगा कि ये पुरानी देहली के बड़े बस अड्डे से बस पकड़ लें। हर दम मिनट में वहाँ से बस चलती है टिकट ये पुराने फ़रीदाबाद की खरीदें। वहाँ पुराने फ़रीदाबाद बस अड्डे के स्टाप पर उतर जायें। उतरते ही बाई ओर चले जाये वहाँ बहुत फलों की दुकानें हैं। वहाँ प्रातः आठ बजे से हमारा एक आदमी मानवता मन्दिर का पोस्टर ले कर खड़ा होगा जो दोपहर के साढ़े बारह बजे तक खड़ा रहेगा। वह आप को महाराज जी के मकान तक पहुँचा देगा। फिर भी यदि कोई भटक जाये, तो रोड पार करके सीधे रेलवे लाईनों को पार करके फ़तहपुर गांव को पार करता हुआ 21-बी के शापिंग सैन्टर को पार करता हुआ सीधा चला आये और फिर बाई तरफ मुड़ जाये उससे दूसरा मकान है। तीन बजे तक सबको फारग करके मेटाडोर द्वारा फरीदाबाद के बस स्टेन्ड पर वापि पहुँचा दिया जायेगा ताकि सभी समय पर अपने-2 घर पहुँच सकें।

जनरल सेक्रेटरी
मानवता मन्दिर,
होशियारपुर।

मासिक सन्देश

परमसन्त हजूर मानव दयाल

डा० ईश्वर चन्द्र शर्मा जी महाराज

मेरे परम प्रिय सत्संगियो !

राधास्वामी, परमदयाल जी सहाई !

इस मासिक सन्देश को आरम्भ करने से पहले मुझे आपसे दो भूलों के लिए क्षमा माँगनी हैं। एक भारी भूल तो यह हो गई कि मैं सितम्बर और अक्टूबर के दो अलग-२ मासिक सन्देश प्रैस में छपने के लिए दे गया था। क्योंकि मैं पिछले दो महीनों में विदेशी दौरे पर था। प्रैस से सम्बन्धित आधिकारियों से यह भारी भूल हो गई कि उन्होंने अक्टूबर के मासिक सन्देश को सितम्बर में छाप दिया और सितम्बर के मासिक सन्देश को अक्टूबर में प्रकाशित किया। इसलिए मैं आपसे क्षमा मांगते हुए यह प्रार्थना करया हूँ कि आप पहले अक्टूबर महीने में छपे हुए सन्देश को पढ़ें और उसके बाद सितम्बर वाले सन्देश को पढ़ें। दूसरी भूल यह हुई कि सितम्बर महीने के मानव मन्दिर के मासिक सन्देश में 51 पृष्ठ के दूसरे पैराग्राफ के आरम्भ में 22 मई के स्थान पर 22 अप्रैल लिखा गया है।

मैं प्रायः जून 86 के महीने में होशियारपुर ही रहा। दैनिक और साप्ताहिक सत्संग चलते रहे। मेरा अधिक समय

परमदयाल जी महाराज के शताब्दीं ग्रन्थ को तैयार करने में लगा। जून के महीने में पंजाब और हरियाणा में कुछ तनाव की स्थति थी, यूं तो मुझे हरियाणा प्रान्त में जाने की आवश्यकता नहीं थी; किन्तु एक विशेष घटना के कारण मूझे 21 जुन को सायंकाल 4 बजे हिसार के लिए रवाना रवाना होना पड़ा। यह दैविक घटना यहाँ पर लिखने के योग्य है।

यूं तो सन्त के पारिवारिक सम्बन्ध यानि कि रिश्तेदारों के साथ व्यवहार आदि का रूहानियत की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं होता। परमदयाल जी महाराज ही एक ऐसे परमसन्त हुए हैं जिन्होंने बार-2 अपनी पारिवारिक घटनायों को सत्संगियों को उभारने के लिए अपने सत्संग में बताया। परमतत्त्व के सन्त अवतारों के निकटवर्ती सम्बन्धियों ने न हि केवल उनको अवतार स्वीकार नही किया बल्कि कई बार उनका विरोध भी किया। अपने सम्बन्धी पिता-पति, भाई को परमतत्त्व न मानने का एक कारण ये है कि अवतार के निकटतम होने से रिश्तेदारों को उसके व्यवहारिक सम्बन्ध मामूली से लगते हैं। सन्त अवतार भी आम मनुष्यों की भाँति व्ययहार करता है और सम्बन्धियों का आदर वैसे ही करता है। जैसे साधारण मनुष्य करता है। घर में रहते हुए उसका व्यवहार कोई विशष प्रकार का नहीं होता क्योंकि वह जानता है कि सम्बन्धियों से उसका कर्म बन्धन तभी कटेगा जब अह परिवार का एक आदर्श सदस्य होने के नाते अपने सभी रिश्तेदारों के प्रति कर्त्तव्य निभाता रहेगा। यह जानते हुए भी कि यह अनामी धाम से आया हुआ है, वह इस सच्चाई को अपने सम्बन्धियों को साफ शब्दों में नहीं बतलाता। पहचानने वाले सम्बन्धी उसे समझ लेते हैं किन्तु ऐसे सम्बन्धी बहुत कम होते हैं। भगवान राम को उनके पिता दशरथ ने परमतत्त्व माना और श्री राम के

बन जाने के बाद उसने शरीर त्याग दिया। गुरु अमर दास को पुत्री भाँति कँवर ने अपने पिता को गुरु ही माना और अमर दास जी के शिष्य राम दास से विवाहित होने के बाद भी वह अपने पिता की सेवा परमतत्त्व के अवतार के रूप में ही करती रही यही दृष्टिकोण भांनि कँवर के पति राम दास का था। राम दास कभी भी अपने आपको गुरु अमर दास जी का दामाद नहीं मानते थे ।

भरत और लक्ष्मण श्री राम को पूर्ण अवतार मानते थे, किन्तु दुर्योधन और कौरव भगवान कृष्ण को अपना सम्बन्धि मात्र मानते थे। गुरु अर्जुन देव जी के भाई ने उनसे घोर शत्रुता की और उन्हे मरवा डाला। ऐसे बहुत से उाहरण प्रस्तुत किऐ जा सकते हैं जिनमें सम्बन्थियों ने सन्तों और भक्तों का घोर विरोध किया। सन्त मीरा बाई के सभी सम्बन्धी उसके विरोधी थे। नरसी भक्त की भावज और उसका भाई भी नरसी का विरोध करते थे। अक्सर सन्त अवतार के सम्बन्धी उसे केवल रिश्तेदार मानकर अविश्वास के कारण सन्त अवतार या सद्गुरु से कोई भी लाभ नहीं उठा पाते। परमदयाल जी सहाराज ने ऐसे उदाहरण दिये हैं जिनसे यह साबित होता है कि निकटवर्ती सन्बन्धी चमत्कारी घटनाओं का अनुभव नहीं कर सकते। उन्होंने कई बार कहा है कि सैंकड़ों सत्संगी स्त्रीयों ने जिनमें से कुछ वास्तव में बाँझ थीं, परमदयाल जीं से सन्तान प्राप्त करने के लिए प्रसाद लिया और उन सबको सन्तान लाभ हुआ। उन्होंने अपनी सुपुत्री को भी अनेकों वार सन्तान प्राप्ति के लिए प्रसाद दिया किन्तु वह इसलिए सफल न हुआ क्योंकि परम दयाल जी के अनुसार उनकी सुपुत्री अचेतन मन में केवल पिता ही मानती थीं।

इस सम्बन्ध में मेरा विचार कुछ और है। मैं इस विचार

में गलत हो सकता हूँ। मैं समझता हूँ कि परमदयाल जी महाराज ने अपनी पुत्री के लिए प्रसाद बनाते समय चमत्कार दिखाने की दृष्टि से विशेष प्रकार की Radiation नहीं दी उन्होंने एक जगह कहा है कि सत्संगियों को मालिक की ओर आकर्षित करने के लिए उन्होंने भी सत्संगियों से खेल खेले। मैं समझता हूँ कि उन्होंने आम सत्संगियों को यह बताने के लिए कि वह अपने कर्म शिवसंकल्प के आधार पर करें और पूर्णतया गुरु की दया पर निर्भर न रहे, अपने परिवार का उदाहरण देने के लिए अपने सम्बन्धियों को चमत्कार नहीं दिखाये। मेरे कहते का मतलब यह नहीं है कि सम्बन्धियों के विश्वास में कमी नहीं होगी। इसके विपरीत जैसे कि ऊपर बताया गया है, कि कुछ सम्बन्धी सन्त को अपना सद्गुरु या अवतार मानते हैं। उनका ये विश्वास ही उन्हें रूहानियत में आगे बढ़ाता है।

ऐसी ही घटना मेरे साथ हुई जिसके कारण मुझे 21 जून को अचानक हिसार के लिए रवाना होना पड़ा। इस सम्बन्ध में मैं वह बताना चाहता हूँ कि मेरे ससुर श्री केशव दास मनूजा, जो हिसार में ऐडवोकेट और नौटरी पब्लिक थे पिछले पाँच वर्षों से मुझे अपना दामाद न मान कर गुरु मानते थे। उनका स्वास्थ्य सदैव अच्छा था, वह 82 वर्ष की आयु तक लगातार टैनिस खेलते रहे। जून के तीसरे सप्ताह में सम्भवतया 16 जून को हार्टअटैक हुआ किन्तु दूसरे दिन वो फिर टैनिस खेलने चलेगये। जब उन्हें दुबारा हार्टअटैक हुआ तो उनके मित्र डा० सोनी ने उन्हें हिसार में चोपड़ा नर्सिंग होम में भर्ती कर दिया और देहली भी टैलीफोन करके उन की तीन बेटियों कृष्णा छावड़ा, शोभा सलूजा तथा उनके पति कानन कुमार को बुलवा लिया। एक दो दिन में उनकी हालत सुधर गई और शोभा सलूजा और उनके पति देहली पहुँच

गये । उन्होंने हमें होशियारपुर टैलीफोन करने की कोशिश की किन्तु सफल न हुए । 21 जून प्रातःकाल मैंने स्वाभाविक श्री विजय नरेश नेगी D.I G. पुलिस हरियाणा को टैलीफून किया कि वह हिसार में टैलीफोन करके मेरे ससुर श्री केशव दास मनूजा के सम्बन्ध में उनके स्वास्थ्य की सूचना प्राप्त करके मुझे दें । मैंने ऐसा इसलिए किया था क्योंकि देहली से मुझे तार आ कुका था कि श्री मनूजा हिसार में अस्वथ्य हैं । उन्होंने एक घण्टे के अन्दर सन्देश दिया श्री मनूजा चौपड़ा नर्सिंग होम में भर्ती हैं, लेकित उनकी हालत अब बहुत ही अच्छी है । उन्होंने यह भी बताया कि श्री मनूजा ने डाक्टरों को कह दिया है, कि वह उस समय देहली में जाँच के लिए नहीं जायेंगे जब तक मानव दयाल जी महाराज हिसार नहीं आते । मुझे यह सुनकर तसल्ली हुई कि हमारा हिसार में जाना इतना ज़रूरी नहीं । हमने सोचा कि हम दो-चार दिन बाद हिसार चले जायेंगे लेकिन तीन बजे फिर टैलीफोन की घण्टी बजी श्री विजय नरेश नेगी चण्डीगढ़ से बोल रहे थे ।

महाराज जी मुझे अभी-अभी हिसार से टैलीफोन आया है, मनूजा साहिब की लड़की कृष्णा छावड़ा ने कहा है कि लाला जी (मनूजा) की हालत फिर खराब हो गई उन्हे कल प्रातः अवश्य देहली ले जाना पड़ेगा । मेंने विजय को कहा कि वो हिसार सूचता देदें कि हम कल प्रातःकाल चण्डीगढ़ से चल कर 8, 9 बजे तक हिसार पहुँच जायेगे यह बात 21 जून की है, हमने यह निर्णय किया कि तुरन्त मैटाडोर से 21 को ही चण्डीगढ़ पहुँच जाये । क्योंकि उस दिन हरियाणा बन्द की सम्भावना थी इसलिए रात्रि को चण्डीगढ़ रुकने के पश्चात् 22 प्रातः को ही हिसार जाना उचित था ।

रास्ते मैं सड़क पर बहुत जगहों पर रूकावट के लिए

दरख्त गिरा दिये गये थे, इसलिए हम बहुत मुश्किल से ठीक 10 बजे प्रातः चौपड़ा नर्सिंग होम में पहुँचे। हम सीधे उस कमरे में पहुँचे जिसमें श्री केशव दास मनूजा का इलाज हो रहा था। वहां पहुँचने पर मालूम हुआ कि रात भर खून की उलटियाँ आने के आरण मनूजा साहिब बेहोश हो गये थे। मेरे पहुँचते ही उन्होंने आँखें खोल दी थी किन्तु वह बोल नहीं सकते थे। उनकी आँखों से और उनके चेहरे के हाव-भाव से पता चलता था कि मेरे आने से उनको तसल्ली हो गयी थी। मैंने उनके सिर को अपने हाथों में लिया और 50 मिनट तक ध्यान में रहा। जब मैंने आँखें खोली वो मेरी ओर देख रहे थे, आखें मिलते ही तुरन्त मुझे ऐसे लगा कि उन की आत्मा एक ज्योति के रूप में आँखों के रास्ते से बाहर निकल गई और उन्होंने आँखें बन्द करलीं। डाक्टर ने उन के सीने को मलना शुरू किया ताकि उनकी नब्ज वापिस आ जाये। मैंने डा० को कह दिया कि ज्योति निकल गई है। श्री केशव दास मनूजा एक बहुत पवित्र आत्मा थे। हिसार के सभी वकील और बड़े-२ आफिसर दूसरे दिन उनकी शोक सभा पर आये और सभी ने मुक्त कंठ से कहा कि वह एक सच्चे और आदर्श वकील और सेवा-भाव रखने वाले व्यक्ति थे। जैसे कि मैंने पहले कहा है कि पिछले पाँच वर्षों से उनकी रुचि अध्यात्मित हो गयी थी वो मानव मन्दिर पढ़ा करते थे और हर वर्ष मानवता मन्दिर को अन्नदान भी दिया करते थे उनकी आखिरी इच्छा ये थी कि मैं उनके चोला छोड़ने से पहले उनके पास पहुँच जाऊँ।

उन्होंने २२ जून को इस असार संसार से विदा ली और शान्ति पूर्वक प्राण त्याग दिये। मैं समझता हूँ कि वह एक सन्त वृत्ति के व्यक्ति थे उस दिन उनके पुत्रों में से कोई भी वहाँ न पहुँच सका और मैंने स्वयं उनके सारे संस्कार सम्पन्न किये। उनकी भक्ति इच्छा पुर्ण हुई। उनकी अस्थियों का

हरिद्वार में प्रवाह करने पश्चात् हम 25 जून को होशियारपुर पहुँच गये। मैं यहाँ पर यह घटना इसलिए लिख रहा हूँ कि जिस प्रकार मार्च के महीने मैं मेरा अमेरिका जाना कैन्सिल हो गया था और U P. का दौरा भी कैन्सिल हो गया था, क्योंकि मुझे परमदयाल जी महाराज के सेवक श्री गोपाल दास जी के शव को होशियारपुर में कन्धा देना था, उसी प्रकार ऊपर दी गई घटना घटी। मैं हर वर्ष वैशाखी के तुरन्त बाद अप्रैल के महीने में विदेशी दौरे पर चला जाया करता हूँ, किन्तु इस बार न जाने क्यों मैंने यह निश्चय किया था कि अप्रैल के स्थान पर जुलाई के अन्त में ही मैं विदेशी दौरे पर जाऊँगा। अब यह स्पष्ट हो गया हैं कि प्रकृत के प्रभाव के कारण और प्रारब्ध कर्मों के कारण मुझे श्री केशव दास मनूजा के अन्तिम संस्कार करने थे, इसलिये ही मेरा विदेशी दौरा स्थगित हो गया था।

इन घटनाओं को यहाँ देने का अभिप्रय ये है कि सत्संगियों को हमेशा यह स्मरण रखना चाहिये कि यह जगत कर्म प्रधान है। हर एक व्यक्ति को जीवन में अपने अच्छे या बुरे कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। तुलसी दास जी ने इसी सच्चाइ को बयान करते हुये कहा है। :—

"कर्म प्रधान विश्व कर राखा,
जो जस कीन्ह सो तस फल चाखा।'

हाँ सभी कर्मों से मुक्त होने के लिये और पुर्नजनम के चक्र से छूटने के लिए एक मात्र रास्ता यही है कि सद्गुरु के सम्पर्क में रहकर अपने जीवन को अनुशासन में रखकर कठिन साधना करता रहे। पिछले मासिक सन्देश में मैंने इसी साधना के सम्बन्ध में सन्तमत की दृष्टि से तपा की व्याख्या करते हुए बताया था कि वाणी की तपस्या में कुट शब्दों का न बोलना विशेष महत्त्व रखता है।

उसी चर्चा को जारी रखते हुए में आपसे दो शब्द और कहना चाहता हूँ। जो व्यक्ति अपनी वाणी पर नियन्त्रण रख कर मधुर शब्दों में अपने विचार व्यक्त करता है उसका व्यवहार भी मधुर हो जाता है; हम तीन प्रकार के कर्म करते हैं शरीर से, वाणी से और मन से। वाणी, शरीर और मन के मध्य में है। जो व्यक्ति वाणी से ऐसा कर्म करता है जिससे दूसरे को ठेस न पहुँचे वो शरीर से भी कुकर्म नहीं करेगा, उसका मन भी शिवसंकल्प पर चलते हुये शुद्ध और पवित्र रहेगा। मैं तपा के सम्बन्ध में इस मासिक सन्देश में समय और स्थान की कमी के कारण ये चर्चा यही पर समाप्त करता हूँ।

मैं सच्चे दिल से चाहता हूँ कि इस महीने में आप इस मासिक सन्देश से प्रेरणा लेकर आपनी वाणी पर नियत्रण करते हुऐ सुखमय जीवन व्यतीत करें।

आप का फकीरमय
मानव

आवश्यक सूचना

उन सभी सत्संगियों को यह सूचना दी जा रही है जिन्होंने देहली के निकट मानवता नगर मे प्लाट लेने के लिए आवेदन पत्र दिये थे। इस सम्बन्ध में यह सूचित किया जाता है कि पुरानी देहली से 27 कि० मी० और नई देहली (कनाट-प्लेस) से 28 कि० मी० और गाजियाबाद से 7 कि० मी०, हापुड़ रोड़ पर ज़मीन का इन्तज़ाम हो गया है। देरी इसलिए लगी है, क्योंकि ज़मीन के बारे में पूरी छान-बीन की गयी है इसके अतिरिक्त देहली के 25 कि० मी० के अन्दर-2 हरियाणा और उत्तर प्रदेश की हद में सभी भूमि सरकारी दफ्तरों के

लिए भारत सरकार द्वारा नियत कर दी गई है और मानवता नगर की भूमि इस हद से बाहर है।

इस भूमि के लिए आवेदन पत्र बहुत ज्यादा आ चूके हैं, जब कि हमारे पास सौ से अधिक प्लाट नहीं है। इसलिए प्लाट के इच्छुक सत्संगियों को सूचना दी जाती है कि वे प्लाट की अपेक्षित कीमत तीस हजार का दसवां भाग यानि तीन हजार रुपये तुरन्त बैंक ड्राफ्ट के द्वारा भेज दें ताकि उचित कार्यवाही की जाये। ड्राफ्ट :—

'Secretary, International Society of Humanism' के नाम से बना हुआ होना चाहिए। जो सत्संगी बाद में प्लाट नहीं लेना चाहेंगे उनका ड्राफ्ट उन्हें वापस दे दिया जायेगा। यह ड्राफ्ट जल्दी अति जल्दी नीचे दिये गये पते पर भेज दें। :—

पता Sh. Rishi Prakash Gupta
O-41, Vijay Vihar
Uttam Nagar, New Delhi 110059

ड्राफ्ट राजिस्ट्री द्वारा भेजे।

इस सम्बन्ध में याद रहे कि सत्संगी भविष्य में इस प्लाट को किसी गैर सत्संगी को नहीं बेच सकेंगे। केवल सोसाइटी को ही बेच सकेंगे। 21 नवम्बर 1986 को उन सत्संगियों को प्लाट दिखाया जा सकता है, जो प्लाट देखने के इच्छुक हैं। ऐसे सत्संगियों को 20 नवम्बर 1986 को शाम को सलवान पब्लिक स्कूल ओल्ड राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली में सत्संग भवन के बाहर श्री आर. पी. गुप्ता सेक्रेटरी या सोसाइटी के जनरल सेक्रेटरी डा० एम. के. नारंग से भेंट करनी चाहिए।

जनरल सेक्रेटरी

अति आवश्यक सूचना

परम सन्त हजूर मानव दयाल जी महाराज ने इस वर्ष देश विदेश के बहुत दौरे किये हैं। परम दयाल जी महाराज की शताब्दी पर सारे विश्व में नये केन्द्र स्थापित हो गए हैं। ट्रिनीडॉड देश वैस्ट इंडीज में केवल दो दिन के दौरे में ही तीन केन्द्र स्थापित हो गए हैं। दिल्ली में दशहरा के अवसर पर सलवान पब्लिक स्कूल में चार दिन तक हजूर मानव दयाल जी महाराज सत्संग की अमृत वर्षा करते रहे। लोग हजारों की सख्या में उपस्थित थे। इतनी जनसंख्या आज तक सलवान पब्लिक स्कूल के सत्संगों में कभी उपस्थित नहीं हुई थी। दूर-दूर से और प्रत्येक प्रान्त से सत्संगी इस अवसर पर आये। इसके अतिरिक्त अमेरिका से भी अत्संगी आये। इसी प्रकार इंगलैंड और अमेरिका का दौरा हर दृष्टि से सफल रहा। पत्र व्यवहार का काम परमदयाल जी महाराज के समय के मुकावले में बीस गुणा ज्यादा हो गया है। इन कारणों से हजूर मानव दयाल जी महाराज एक ही वर्ष में भारत और विदेश के सभी केन्द्रों का दौरा नहीं कर सके। इसलिए मैं वसन्त के दौरे के सन्बन्ध में उन सभी केन्द्रों से प्रार्थना करता हूँ, जो इस वर्ष जनवरी, फरवरी और मार्च 1987 में उनको निमन्त्रित करना चाहते हैं, वे अपने-अपने केन्द्र की ओर से दिसम्बर 1986 की दस तारीख तक मुझे जरूर निमन्त्रण भेज दें ताकि दौरे की व्यावस्था नियमित रूप से कर दी जाये। यह सूचना मेरे पास समय पर आ जानी चाहिये। जहाँ से निमन्त्रण नही आयेगा, वहाँ पर हजूर मानव दयाल जी महाराज इस वर्ष नहीं पहुँचेगे।

पिछले वर्ष आन्ध्र प्रदेश के कई सत्संगियों की जबर-

दस्त शिकायतें आईं थी कि हजूर मानव दयाल जी महाराज उनके केन्द्रों पर नहीं आते। महाराज जी किसी को भी निराश नहीं करना चाहते। इसलिए आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र तथा अन्य केन्द्रों के अधिकारियों से प्रार्थना है कि वह महाराज जी को बुलाने का निमन्त्रण सीधा मुझे मानवता मन्दिर में समय पर भेज दें। उसके पश्चात् ही आने का प्रोग्राम बनाया जायेगा।

एस. एल. सेठी
जनरल सेक्रेटरी
मानवता मन्दिर,
होशियारपुर।

ENGLISH SECTION

Of

Manav Mandir

A Paper devoted to the Social, Cultural and Spiritual Welfare and uplift of Mankind all over the World.

BE MAN

Nov. 10th, 1986.
MANAVTA MANDIR
Hoshiarpur, (Pb.) India;

Data Dayal Maharshi
Shivbrat Lal Ji Varman
M A., LL.D.

DISCOURSE XI

CONCLUDING REMARKS ON PEACE

1. We live in the world of contradiction being surrounded on all sides by pairs of opposites. By and by the seekers after truth make spiritual progress in their attempts to reach their goal. There are few who are blessed with rapid strides. Much depends upon circumstances and opportunities and the bent of mind. Everything in nature requires saerifice and those that are able to sacrifice their time and devote their attention to the spiritual pursuit may be sure and certain of attaining the goal by and by, while those that are slow and cannot spare time for it, cannot achieve their object. The practice is as simple as anything can be It does not require much amount of self-denial or restratint. Ordinary people who are of thoughtful nature and devotional tendencies can perform practice daily and become conscious of the progress in course of their training.

2. There are five grades of the initiates who join the order :—

(1) Ordinary associate or "Sat Sangi".

(2) Regular practiser or "Sadhu".

(3) Devotee who is addicted to the principle of goodness or "Hans".

(4) Devotee who adheres to the principle of goodness or "of Param Hans".

(5) The Holy Saint or "Sant".

Ordinary associates are the initiates in the order who know the tenet attend the holy commnnion and follow them according to their convenience and conventions, reading the scripture and practising the method of devotions with regularity

3. The second class of initiates who are less theoratical and more practical and are always bent on reducing their theory into practice in order to attain the realisation of facts and bear witness to it with their faint, belief and intuition, avoid religious controversies and spare every available time for the performance of devotional methods.

4. The votaries addicted to the principle of goodness belong to third class They have been designated and likened to a fabulous bird "Hans or Swan" which will drink milk and leave out water if both are mixed together and presented to it for drink. It means that the votaries choose only such principles, methods, associations and every other thing which serves their purposes leaving alone the rest. They are excellent beings in advanced conditioned and can be known by their avoidance of evil and adherence to good.

5. The fourth kind of initiates are those devotees of first class order who adhere to good only and lose

sight of the evil altogether behaving just like innocent children. They have natural affinity to good and are attracted towards it. They do not like to talk of good but they actually live in good. They mode of living is the most practical, shedding lustre around wherever they got without claiming anything for the voluntary gift. They are even unconscious of good and evil. Naturally they become good and practically forsake the relative plane of good and evil. It is a little difficult to comprehend how a man can become altogether good without having the knowledge of evil but it must be borne in mind that those good person who know the evil and avoid it are only half good. They are not naturally good and honest men. Having consciousness of dishonesty is to be half dishonest. Truly honest man is he who is honest naturally, instinctively and has neither the knowledge nor feeling of dishonesty. Such are the devotees of the fourth class.

6. The initiates of the fifth class are highest beings who attain the goal of life while living the life of a human being. They act just like the other forces of nature without claiming or declaiming anything, without associating with or dissociating from anything. They are called Saints, the perfect beings who are regarded as ideal personalities. They are men in the true sense of the word and they are regarded as the chiefs of creation though apparently appear to be men.

7. The Saints are of two kinds, the highest are Supreme Saints neither belonging to any order nor claiming the foundation of any order. They, like the luminous sun, shed unconsciously the light of their

personality to the humanity at large. One sublime thought emanating from them gets diffused throughout the universe from end to end and it changes the outlook of the whole world While the saints of the second order ofter engage themselves in the spiritual teachings and it is by them that the foundations of the spiritual cults are laid.

These five sorts of initiates are the beings who through their devotion and devotional methods first asce d the m nsion or peace within themselves (for the Kingdom of Heaven lies within and not without) and then they bring it down as if transplanting it on earth for the good of humanity.

Question 1.—This assertion of peace and grace is pleasant to the ears, but it seems difficult that it could be brought down on this earth of woe and misery and be used in the ordinary ccurse of life for its emancipation.

Answer.—It is possible. You see that when any idea takes possession of a man's mind it alters his life altogether and all his conditions become, as it were, the outcome of that one single idea. When it is so, peace and grace are natural conditions if acquired. Having taken deep root in one's mind now, could they not produce that desired effect.

Question 2.- In its primeval essence, is this creation of grace or disgrace or in other words is it of ease or disease ?

Answer.—The creation in reality is of grace, ease and peace, where there is no idea of time and of preception it is in its primitive state. It is time only that

changes condition. Man becomes selfish and selfishness gives birth to pride, anger, avarice, lust and attachment and thus the ease becomes disease, grace becomes disgrace and peace turns into no peace.

Question 3.—How does this time produce selfishness in man's mind ?

Answer.—When a man attends to the immediate want and necessity of his life paying more attention to it and at the same time avoiding further thought consequent on it, the sentiment of selfishness is born in him and when there is one selfishness in a man its progeny in course of time is multiplied and surrounds him on all sides. Thus selfishness is born with realm of time.

Quesrion 4.—From these discourses it follows that time is the inimical factor in creation. Is it so ?

Answer.—It is even so.

Question 5.—But how can anything be done without time. All depends on time ?

Answer.—It is even so.

Question 6.—To lose sight and preception of time is very difficult indeed when time pervades every thing.

Answer—It is even so.

Question 7.—Is it possible that one might be enabled to lose sight of time and do without it.

Answer.—You are the best judge of the fact. When you are in dream the mind loses the consciousness of time and when a man is in deep slumber the very notion of space and time is all annihilated. When the soul awakes the time is changed into eternity. This is felt, known and realised in trinity but when one has gained the fourth dimension it becomes a real

fact to him.

Question 8.—How can we realise it ?

Answer—It could be fully realised in wakefulness. You know that in deep slumber or sound sleep. That is ease and disease, that is gr ce and not di·grace. You cannot deny this fact and so when you cross this and get beyond it there is the fourth dimension. Devote your time to the practice of this Yog and you will realise it very soon and become conscious of this Orace.

PEACE

by

Param Sant Param Dayal Faqir Chand Ji Maharaj

These days, attention of the whole world is engaged in the establishment of peace. All the great Nations and Powers are busy in putting forth their energy in the effort to accomplish it. An exceedingly large number of men want to work on democratic principles for the establishment of peace, but the question arises, "Whether their measures will succeed or not" for it is said :—

One who acts without considering its consequences,
Shall have to repent afterwards,
He spoils his own career,
and the world laughs at him.

In the performance of any act without considering its consequences, one has to suffer unnecessary loss. Over and above this he is ridiculed in the public and has to wring his hand in remorse. Brothern and countrymen ! Let us first thoughtfully investigate, whether there is any possibility of establishing peace or not, through the ways and means we are adopting. Let us first consider what is that which is called peace.

Peace is the name given to that state of life, in which there is no rise and fall in the wayes of life, in sensations, nor there is any danger of cataclysm On the other hand, it is that cheerful and smooth f rm of existence, which is like a sea at calm shimmering in the sun. When a flood of ideas rises in the mind of a person, without any desire on his part, and which he does not like, he tries to put a stop to it. On his success in doing that he feels pleasure and on failure pain. After this experience of pleasure and pain, he longs for tranquillity or peace of mind. In the same way, our country, in consequence of bloodshed and civil war, is longing for the establishment of peace. It is to be seen now, whether the ways and means adopted by our country will prove profitable or not.

The life of a person is composed of three kinds of conceptions of existence : viz. Physical conceptions, Mental conceptions and Spiritual conceptions. What happens in the state of tumult and commotion ? In all these three kinds of conceptions a tumultuous disturbance and storm arises. If the above-mentioned conceptions can be controlled by any means and attention is diverted to some useful interesting activity, in that event there can be any hope of peace or tranquillity. Otherwise there is no way out of this tumult and commotion. If a man cannot keep his physical conceptions or physical strength under his control, he makes use of some other external means or diverts his attention to some other direction, but this work can only be done by using commonsense and discretion. Take for instance a youngman, who is not only strong

in body, is high spirited and full of ambition, but also has his heart beating with noble aspirations in his broad chest, how can you expect him to sit still at home! He is obliged by nature to be active and strenuous. In the same way observe a healthy child, his play instinct impels him to do something or the other and to play If his parents try to restrain him by threats or awe to sit quietly, it would be impossible. On the other hand if they are wise enough to divert his attention towards some useful activity or play, that he may not be a nuisance or a cause of worrying others as well as working according to his natural instinct, they are bound to succeed. In the same way, to trample upon the sentiments of a youngman and to crush the spirit of revolt in him will never succeed or be possible. On the other hand this instinctive tendency can be made use of in crushing that power which is interfering and obstructing like a dead wall in the establishment of peace in the world But this arduous task can only be accomplished with caution and greatest wisdom as well as a keen insight into things and common sense on the part of the leaders of the country, priests and proponents of religion.

Now let us consider the conceptions of the mind. The emotions and passions in the mind give birth to envy, malice, duplicity and hatred against one another. As a man cannot have what he desires, while sees others getting their wishes fulfilled at their will, he falls a prey to these abominable emotions. As long as profusion and prosperity are not made available to him it will be impossible to restrain these dirty feelings in

his mind. In fact religion is not the root cause of bad blood and discord between Hindus and Muslims. On the other hand it is the desire for wealth, dignity, rank, position, means of livelihood and a life of affluence. Think ! Am I talking rubbish ? Time-serving selfish leaders and spiritual guides or Gurus taking undue advantage of the ignorance and folly of guileless and simple people, under the guise of religion create disturbances in order to win their daily bread, honour and dignity. Do you think that by any means these religious differences can be composed or unity can be established, or these wranglings and brawls can come to an end ? I would say : No Never ! Observe the conditions extant in other countries, minutely. Are they free from these dissensions, disturbances and bloodshed ? Although there are no religious differences in existence in those countries ?

The upshot of the argument is this. As long as the governed will not be enjoying profusion and prosperity, the hope of peace will be wishful thinking. The well known proverb runs :—

"Empty stomach, empty mind" or "Scattered resources, scattered mind " The broken fortune of the common man drives him to dishonesty and desperation to earn his bread by unlawful means. The bread earned by illegal means debases the mind. It directs his attention towards mischief making and creation of disturbances. A man may perform a thousand

times, his 'Sandhiya'[1], 'Namaz'[2], 'Havan'[3] and 'Jap'[4]. But if he has a headache of earning his own livelihood, he cannot do them properly and can never rest in peace and contentment Try to grasp this fact from the political point of view and on a large scale. If the people do not get food to eat and clothes to cover their nakedness, how can their country expect of them to establish peace. It is the duty of sensible leaders to give preference to such a policy of Government which gives first priority to providing means of sustanance to the man in the street. Now the question poses itself what is the ideal of prosperity? How to determine realise this ideal is not a child's play. Try to understand this example. A man after spending Ten rupees a day complains of shortness of his wages, while another feels contented and gratified with Eignt annas a day, but he will certainly be complaining 'What right the other fellow has for spending Ten rupees a day'. Well! When the National Government will force such a one to reduce his expenditure, he will feel hurt and disheartened. The result of which will be strained relations between him and the government. Under these circumstances it will be difficult to maintain peace

1. Sandhiya—Sitting in a certain posture controlling the breath and repeating certain Mantras or incontations.

2. Namaz—Assuming standing, sitting and placing head on the ground to propitiate God while reciting certain set versesf from Quran the sacred book of Mohammadan religion

3. Havan—Kindling the sacred fire, pouring oil or fat and a mixture of combustible substances and chanting Mantras or incontations.

(4) Jap—Repetition of the name of ones God to obtain his benediction,

and discipline. This is a petty example to stimulate and appeal to your imagination. Now you can yourself imagine and weigh the matter on a large scale and tell me whether have you got any clue to the solution of these difficulties. In my opinion no Government has any solution for overcoming these problematic difficulties. If there is any one and if it can be permissible, in that case it can be by following the USSR Government which has passed through all the stages of a long drawn and wide spread revolution. In the first place such bloody revolutions cannot be tolerated by our people. India has been a subject country. At the same time the people of this country have not sufficient equipment and power in their hands to keep under control or prevent a wide spread revolution. Under these circumstances I dare declare in clear words that "For any Government. National or Foreign and of our country, the establishment of a complete and perfect peace, will be beyond its competence." Again the question will be posed "Is it futile to hope for a world peace ?" 'No' ! If complete peace can be established in any country or in the world, it can be possible only through the good services of a true and humanitarian religion Study History ! In the reign of Maharaja Ashoka, the reign of peace and prosperity that was established, was attributable to Buddhism. Therefore, if the country desires peace, its possibility can only be through the agency of some such religion Indeed ! with the help of religion only. Now, the point at issue is "Which that religion can be ?"

Before giving a reply to this question, we have to

find out "What is religion in reality ?" and "How it originates ?

Religion is in reality a practical method of peaceful life, by adopting which in the real sense, a man can live in peace, pleasure, and chearfulness. Besides this all the numerous interpretations of religion are worthless and meaningless. Human distress, pain, and misery is of three kinds :—Physical pain, mental distress and spiritual misery. True religion is one, which prescribes an unfailing remedy for all these three ills. For the treatment of physical pain and mental distress are those instructions which every religion prescribes in the forms of rituals, 'Karam Kand'[1] or 'Sharah'[2] while the treatment for spiritual misery is "Divine Wisdom" or "Ilm-e-irfan"[3], Knowledge of being, or of 'Ilm-e Zat'[4] or cognition of creator or the Lord of all, all and above all.

If you study all the various current religious books minutely, you will arrive at the conclusion that the beginning of every religion is based on the following three queries :—

(1) How is the World or Universe created and dissolved ? In this connection the philosophy of the origin of man is also included.

(2) What is the object of creation ? Who is its creator ? and Where he is ?

---

1. Karam Kand—The following of traditional rituals of Hindu Dharam or relig on.

2. Shariat—Observing t' e sanctions and prohibitions laid down in the religious bocks of Islam or Moham nadan religion.

3, Ilm-irfan—Knowledge of God and Mohammad, the Prophet.

4. Ilm-e-Zat—Knowledge of one's self or soul or the Absolute.

(3) What is that working principle, acting on which man can live in happiness, peace and tranquillity?

As regards the first question, every religion admits in one form or another that the origin of creation is from 'Nur'[1] God effulgence i e. light. The religion of saints which has made the greatest research work in this field, has acknowledged, along with God effulgence the existence of sound current heard within the brain or sacred Name or Word. It is another thing that some of the religions have made use of elucidation and explanation of 'Nur' at great length, while others have simply pointed towards its existence. Whatever it may be, the underlying idea of all about 'Nur' or 'Name' is one and the same.

In the same way our life is also 'Nur' (light) and and word which on descending from Subtle regions, sp eading out through gross matter, is working in its groove of gross matter-our mortal coil. The modern scientists at first believed only this much, that a material object has dimensions and time and occupies space. The present-day researches have improved on these statements and say that the origin of matter is from a kind of Electric energy. Further on, they believe in light too. Now think ! If electric energy is not light, what else can it be ? Consequently, whether materialists or spiritualists, all men unanimously believe that heat and light are the origin of this Universe. Sant Mat or the religion of saints has gone further and

1. 'Nur'—It is an esotric term for God Effulgence. It is not equated with the word 'light' which is a form of energy and can be split up into seven colours.

worked wonders. It has elucidated it and extended the theory of 'Nur' still further by fixing various regions of this Light or 'Nur' stretching one above the other to which I have traversed and of which I have sufficient personal experience in my state of 'Samadhi' (ecstacy) From this point of view there will be no difference of opinions on the points, that matter has weight, occupies space and is a component part of that Nur (light) condensation of Nur in its changed material forms.

The authoritative and unrivalled Hindu scripture Bhagwad Geeta also mentions, how Shri Krishan Ji Maharaj revealed Nur Light[1] Incarnate to the spiritual eyes of Arjuna. It is also an authoritative proof of the fact that our life, has come into existence from Nur (light) incarnate and the whole universe has been created by this Nur (Light). Although there is much to be known beyond this 'Nur' light, which is unknown to the modern Scientists up to the present day, but, on this occasion I refrain from describing it deliberately keep silent. The greatest Saint Kabir Sahib has said :--

Awwal Allah Nur Upaya Qudrat de Sab Bandey
Aik Nur se Sab Jug Upjo Kon Bhole kon Mandey

'God created Nur in the beginning; all this universe is subject to Divine being. By a single 'Nur' the Universe was brought into existence how can good be be distinguished from bad.

Now the references from the sacred books of Muslims may be considered.

Jabar—May Lord be pleased with him-enquired from Hazrat Mohammad God's Prophet (May all praise

1. Mohammadans also believe that Moses saw God in a self kindled fire and light and heard God's words.

be on him) "Who was born first of all ?" He replied :-- "Oh Jabar ! God the Great before creating all beings in the universe, created, the Nur (light) of your Nabi. (Prophet of God) had been created from His Nur or Light". In the book Maktubat Shareef Hazrat[1] Mujadad Alif Sani—May God's blessings be on him- has written a command of [2]Hazrat Rasul Kareem :— "I am from the Nur or Light of God and the whole creation is from Nur Light".

In the book Madaraj-ul-Nabuat, Sheikh Abdul Haaq of Delhi a compiier of Mohammedan ancient traditions, has quoted a 'Hadees' or (Traditional saying) of Hazrat Mohammad Rasul-e-Kareem, just see ! "First of all God created my Nur or Light". Although this ways of expression about creation from Nur are different but they bear the same meaning.

Now, there remains the question of the nature of creator, Dear Supreme Master, Doer or God. Some religions believe Nur by itself as God, while others believe the creator of Nur to be God. All the believers in the last mentioned category, have failed to give a proper explanation of their faith. Accordingly Swami Shiva Dayal Singh Ji says :—Hairat or Curiosity was born, one who assumed the form of curiosity is that Absolute blissful state. Saint Kabir says :—"If I call him one, it will be wrong ! If I believe in Duality, it will be sacrilege, for he is absolute, All in all, and All above all and All !

---

1. Mujadad—Savant. Here the Savant one thousand years after is referred to.

2. Hazrat Mohammad the messenger from God, e all praise to Him.

As He is, So He stays, says Kabir after meditation. It is clear now. As far as spiritual misery is concerned, every religion prescribes Nijat or Emancipation as its only remedy. Spiritual misery is the name given to ignorance, obstinacy and lack of knowledge. For this side of religion it enjoins that if we wish to come out from the curtain of darkness and ignorance the easiest method is for us to return to our original home. It can be still clearly expressed in this way. After awakening love and devotion towards Supreme Being, Master, Doer or Nur we should merge our entity into the primary state of bliss, emanating from which we got entrapped in the whirling wheel of this creation.

The third item is those petty and trivial codes of conduct, which the founders of religion have instituted by keeping in view the exigency of time to make life pleasant and to maintain social order in perfect trim. In fact, the principle of considerations of time, circumstances and human dispositions is visible in these rules and codes of conduct, which were changed from time to time and are still changing. Their instructions are called Shariat or Karam Kand. They are related to our faith, belief and personality, whether we act according to them in their original shape or after alteration according to the requirements of time. When they have no important influence on human life, where is there any wisdom in making them the cause of dissension and creating troubles in our social life—"A word to the wise will be enough."

For your convenience I am going to elucidate Shariat and Karam Kand to some extent. If you have

a perfectly sound mind, hear ! Our ways of life are not the same as they were a century ago. What they are at present will not last after some time Therefore all the rules and codes of life whether social, religious or political ought to change according to the exigencies of time, and Laws of Nature also demand it Any human being, nation or country, which does not obey the law of change will continue to be miserable because 'standing water stinks' is natural.

For this reason, there arises a need of an unprovocative, harmless and peace loving religion, by practising which, an atmosphere of mutual consideration peace, happiness and tranquillity is created. As for as Karam Kand and Shriat are concerned, every religion has laid down some kind of common or different codes of conduct for their followers in consonance with their health considerations, situation in their country, climatic conditions, rules of courtesy and decency in vogue. Their main object is to improve the health of people to raise their moral standard, and by setting in motion the sentiments of mutual love an amity to bring forth peace and happiness in their social order. Therefore, O brothers and countrymen ! Why do you break heads of one another by involving yourselves in petty and frivolous matters ? Why don't you change according to the exigencies of time, so that you may pass your life in this world comfortably. If the present state state of affairs continues your dream of peace will not come true till Doomsday. Yes ! I am constrained to say one thing more. Which is this : that if you change of your own accord it will be excellent, otherwise the law of nature is destined to do its work, where there is

no soft corner for mercy. On the contrary it will not rest without changing you forcibly by kicks in your ribs.

If peace be your object, follow humanitarian religion. There are two principle of this human religion. (1) To acquire Knowledge. Who are we ? From where we have come? What are creation and creator ? Where does he live ? and (2) What are the ways of reunion ? From the beginning of creation to the end they stay out, because they are natural. Its third principle begins with self controls. Keeping all sides of courtesy in view and raising the moral standard, teaches mutual amity and love. Can they deserve to be called human beings, who do not possess these three attributes ? In a country, whose inhabitants are blank with regard to the three above mentioned qualities, what to say of the existence of peace among them, it will be a mistake to think that they even know the name of peace.

Just think ! Study the daily papers of this country, They are pouring out venom against one another. Read their books and pamphlets ! Hear their sermons and speeches ! They are doing hateful and poisonous propaganda Under these circumstances to hope for peace will be wishful thinking.

The Government can help in the establishment of peace to a certain extent. It can use force to prevent torture and cruelty on one another among its people, it can also supply food for all to appease hunger, it can make arrangements for providing clothes for daily use, but it cannot root out your covetousness, meanness, and your worthless selfish and uncontrolable desires. This can only be accomplished by humanitarian religion or 'Sant Mat' or the religion of saints,

provided you bow your head to its teachings with pleasure. For this capability the society of saints is a necessity. These are the very desires which pose obstacles in the way to peace.

It is just possible for some one to ask this question :—Will there be no wars by following the tenets of humanitarian religion ? My auswer in clear words is, "No ! Never !" If the numerous supporters of peace wend their way towards humanitarian religion, it would not be difficult to change the trend of the remaining mischievous persons and trouble-makers to their betterment by contest. The number of peace loving party is ninety nine percent of the world population while that of incendiaries is only one percent. Remember ! To fight according to the exigencies of time and to forcibly put down the unnessary elements of society is an important principles of true religions. The present day disturbances and bloodsheds are not based on any principle. On the contrary these are due to the wickedness of a few mischief-monger ruffians. If the present democracy can be successful and peace can be established in the country it can be only possible under the circumstances, when the people become polite, benevolent and well-behaved. As long as this does not come about, and the people do not form the habit of self-control, you will not be able to think of your own good or evil, nor can peace be established. On the contrary, I am given to think that under the present circumstances Democracy will not be successful because it stands in great need of alteration and amendment.

Let us proceed further towards spiritual sensations ! What is Soul ! Most of us have little knowledge of this. Moreover it is not possible, until by detaching yourself from physical and mentai sensations you realise the spiritual experience within yourself. Yes ! If you practice like this, you will acquire the knowledge of soul, and you will have a taste for spiritual life to boot. Remember ! So long as you do not realize spiritual experience, its complete and true desire is not created in the heart of any man.

From the above-mentioned discussion, you must have comprehended ; What sort of thing Peace is ? How it can be attained ? Still, I describe in brief the conditions for its acquirement :—

(1) The existing government, that may be our own National Government, should make an arrangement for the provision of food to one's fill, for clothes according to his requirements, and for houses to live in, and so on.

(2) The Government should be so strong that after controlling the forces, obstructing the way to peace, or after facing them, and without turning its back to the welfare of the country, it may be able to create a favourable atmosphere in the country

(3) Our countrymen should adopt the humanitarian religion, should be courteous, well behaved, kind and considerate.

(4) Every individual should devote some of his time to spiritual practices both morning and evening, i.e. he should practise to rise above the physical and mental spheres of sensations. For those, who have even the least experience of spirituality, are obliged to

become peace-loving automatically, because their attention rises high above the physical and mental fields of sensations, where they get an experience of a kind of taste in life, bliss, happiness, inebriation and state of ecstasy. As it is a pleasent experience therefore, in a way, that person becomes enraptured in it and he forms a habit of learning towards it. This is the true hunanitarian religion. After all, in my opinion, this is the one and the only way, which can convert the vicious atmosphere of our country into a pleasant one.

(5) The rulers of the country should be 'Khalsas' in the correct meaning of the term. In other words, they should be pure in heart. The same instruction hasbeen given by Guru Govind Singh Ji that the word 'Khalsa' does not apply to a person wearing long hair only, but to a genuinely pure human being.

Man Search for External Truth

By

His Holiness

Hazur Manav Dayal Ji Maharaj

Dr. I. C. Sharma

The propulsive force behind world ci il zationhas been man's unquenchable desire to probe—fromthe outer reaches of the universe to the depth of his own personality. To fathom the secrets of external naure and the experiences of the inner self, to glimpse the intimate relationship of spatiotemporal destructible matter and transcendental indestructible psyche las been the motivation for our cultural evolution. The innate urge to understand the immutable laws of natural forces and to overcome the limitations in human mastery of space and time disease, old age and even death, is indicative of the presence in finite personality of that which, in essence, is finite and eternal–the Soul, Atman, Logos.

The analysis and comparison of the vast ields covered by the world's scientists, sages and seers are studied in themselves. But here we are concerned mainly with man's efforts to understand "Tuth",

which is eternal, yet which appears in varied forms, in different relations and combinations, in varying degree and dimension, in the physical, mental, intellectual and spiritual experiences of man.

Facts suggest that the gradual progress of human knowledge in the fields of science, religion and philosophy which seems to be bringing man nearer the whole truth is hinting at the integration of all the specialized branches of knowledge into one organic pattern, the Eastern concept of unity in diversity.

There is no question that specialization, which is a recent development in science and technology, has been of tremendous practical use to man. The present progress of culture and human society, the growth of social, political and cultural institutions could not exist without the specialization of research Because of specialization contemporary society has the advantages of technology for a happier life, free from want, hunger and disease. Because of specialization even the average man in today's affluent society has all the amenities of comfort and ease. Because of specialization in physical, biological and social sciences, unprecedented progress has been witnessed in our time. But that same civilization has created the urgent need to coordinate and compare discoveries of all the particular disciplines and to disseminate the findings through public communication media. For whatever synthesis has been done has pointed to one exciting fact —that all the ways of the search for Truth are converging at one point.

Man is very slow in recognizing this unity of Truth

and technology of evolution, being inclined to over-emphasize differences at the cost of the intuitive vision of unity. Even so, glimpses of the Eternal Truth, whether experienced by scientists, philosophers, sages or mystics have again and again indicated that the Ultimate Truth is One.

We need merely consider briefly, the history of philosophy which originally encompassed the areas of science and religion to see how the tower of Baber has been reflected in the history of Western thought. The castism in these three areas of Western culture (which is applauded as more progressive and dynamic than oriental) is a strange phenomenon. Though philosophers and scientists disavow tenacity in truth seeking, a large majority in the West have refused to give up routine methods of research and have adhered to theories even at the cost of facts. The same is true of many Western theologians who have not shed conservatism even though honest attempts have been made to reinterpret the theories of philosophy and religion in the light of scientific discoveries At the other extreme some have repudiated even the basic truth of religion, while creative scientists are accepting its plausibility. The basic fact, of course, is the existence of God, as Supreme Reality, as the unmoved Mover, immanent as well as transcendent force, the ground of all that is being. It is really the greatest anomaly of our age that in the West there are Godless theologians affirming the death of God, as the doctrine for modern times.

At the very face of it the statement that "God has died in our own time" and that this death of God is

"Ontological" a real death of His Being, is logically absurd. One cannot use the term God and also state that He is mortal. It is not clear what the Godless theologians mean by the term God, when they make their assertions, or what their motives may be, but sensational provocative statements, even illogical ones, are sure attention getters. Actually, this anomalous attitude is more than likely the outcome of that trend in Western culture which has effectively isolated philosophy, science and religion from one another.

Research and scientific discovery in the second half of the twentieth century illuminates this blundering bifurcution of knowledge.

Like historians in general, historians of philosophy are prejudiced by one theory or another and the account they give is partial and biased. We can discover their errors, if we study the ancient Greek thinkers from original sources and reserving judgement. A dispassionate study of the philosophers of Greece shows that their sole purpose was to understand the nature of cosmos and the meaning of human life. For them, especially the great thinkers—Heraclitus, Pythagoras, Socrates, Plato and Plotinus—cosmos and man, God and individual soul had intimate relation with each other. In order to understand the purpose of human life or its meaning in the cosmos an analysis both of the physical world and the relationship of human consciousness to God was neces ary for them. Enthusiastic modern philosophers have frequently neglected this theological aspect of ancient Greek philosophy. But the ancient philosophers were no mere theorists. They existed prior to the prejudices of

naturalism, monism, pluralism and realism. Their main interest was the experience of their innermost experience.

Today it is popular to say that Socrates was the founder of a theory of knowledge, but, unlike Plato had little concern for metaphysical systems. The prejudice of these observations becomes apparent when Socrates' words are studied and one finds that he only expressed the visions, the ideas, which were the outcome of his thinking, meditation and intuition His life demonstrated more than a theoretical belief that man's goal was to rise above worldly limitations. His courageous speeches at the time of his persecution, his refusal to be intimated, or to attempt to escape punishment, are facts of underestinated significance. Contemporary historians of philosophy overlook the great emphasis, which Socrates laid on, "toking cave of the soul" and the importance of his spiritual experiences—the source of his own beliefs and the source of inspirations to his pupil, Plato.

Intuitions and dreams guided Socrates throughout his life. He refused to exchange poison for exile by pleading guilty, not simply because he thought it unethicals, but because of a prompting from his divine source. The pupils were astonished at the courage and calm, which Socrates displayed, as he dwell on the immortality of the soul and declared that death is not evil. He says that a philosopher must die happy in the cause of truth, because only by death can he only attain the greatest good in the other world. There is no doubt that the intellectual approach of Socrates, in

the clarification of concepts and the significance of virtue, was inspired by his inner spiritual urge for the purification of the soul.

Plato's philosophy has been accepted as primarily spiritual, perhaps even mystical by most scholars and we note that the foundations laid by Plato still stand strong. In the areas of metaphysics, sociology, political science and even theology the profoundity and the depth of his insight are unsurpassed and the remark of Whitehead that "the development of Western philosophy is but a series of footnotes to Plato" is not without foundation.

Plato's greatest contribution to philosophy is the clarification of the relationship between the spatio-temporal world and the Supreme transcendent God. For Plato, the soul is like a two-faced mirror. On the one hand, it reflects the world of objects and on the other, the transcendental reality of God. Origin, the grea Christian Platonist accepted the theory of recollection and Plato was the source of great inspiration to many other Christian thinkers, as the expression of inner experience gave added dimension to the intellectualized Truth. A true philosophy can only arise from spiritual experience, because spirit is the essence of all existence. The term spirit is applied to the infinite basis both of human personality and of the cosmos. All great philosophers have had access to the power of spirit, and have tried to express their experiences without reservation, as did Plato. Such an experience should be judged in its wholeness, not analyzed, or isolated from its context, as contemporary scholars attempt to label Plato a realist, or an idealist, or a

monist, or a combination of all these idologies. We should never forget that the eternal Truth is not bound by any limitations or isolated viewpoints.

Partiality does not enter the theories and speculations of a truly great philosopher, for he experiences the truth, living it constantly. What is projected through his intellect and reasoning is the vision of Truth, which arises from his soul. It is a spark of intuition, produced by the contact of human personality with the Cosmic Current. The conscious mind through the mediacy of the sub-conscious receives its inspiration from the unconscious psyche which is in direct contact with universal Truth and glimpses the wholeness of Truth. Philosophy is always inspired by the spirit. This special characteristic of unity of experience has been neglected by contemporary historians, who have been misled by their own overemphasis on analysis, differentiation and extreme specialization.

Plotinu's ideas derived their inspiration from Plato, whose philosophy he studied thoroughly. But at the same time, we cannot isolate him from the great cultural and philosophical influences of the Christian period 204 269 A.D., during which he lived. The greatness of his teachings, however, does not depend on the study of Plato, nor on the observations of contemporary Christian traditions. Plotinus's philosophy was primarily the outcome of his personal inner experience and his spiritual development. His own intuitive experience, his meditation, the glimpses of the divine light, led him to his fundamental convictions, concluding that God is the source of all existence.

Plotinus's cosmology reveals the presence of individual differences and plurality of souls in the spatio-temporal world, emanating from one God, who is Himself infinite and undifferentiated. This One is also the Supreme Good, identified with the light above lights Beyond this however, he tried to avoid the use of any positive concept to define God, lest it conceptually limit Him Human soul individuates from the World Soul, which itself is an emanation from the infinite God. His strong living philosophy was not merely a feeling, but an integrated whole of knowing, feeling and willing—a unitive dynamic and experiential pattern.

Toward the close of the Greek and Roman period and the beginning of the medieval period, a similar amalgam of spirit and reason, intuition and intellect, religion and philosophy appeared in Saint Augustine. But subsequent philosophy in the Middle Ages was subordinated to theology and reason, in the Aristotelian sense was subject to faith. Aristotle had admitted with Plato, that reason in man was the reflection of the divine, but I stressed its practical utility in understanding the physical world. He purposely neglected the spiritual aspect of human personality and thus, started a trend toward the dichotomy between the empirical and spiritual worlds. As a result theologians in the Middle Ages, fearing secular intellectual growth, subordinated philosophy to religions tradition. Prior to this time philosophy had been inspired by the spirit of religious experience. The attempt of the theological philosophy was to derive inspiration from philosophy

to establish a stronger foundation for traditional religion. A multitude of logical proofs for the existence of God were propounded and Aristotle's theory of causation was commissioned to prove that God is the final and efficient cause of the world. Philosophers in their eagerness to justify theology, ignored the fact that reason is finite and no intellectual exercise can comprehend completely the nature of an infinite God.

Reason can neither prove, nor disprove the concept of God as Final Cause, any more than it can resolve whether the hen or egg is first cause. The conflict between reason and faith had a two-fold effect on the history of Western philosophy. First, it brought about the suppression of objective reason and the reduction of philosophy to a secondary status of handmaiden to religion. In other words, the impossible attempt was made to give secular reasons for spiritul truths, with the stipulation added that in matters of conflict, religious authority be accepted as final.

The second effect, which was the outcome of this liasion was the invension of the theory of double truth —the truth of reason and the truth of faith—nurturing a split personality, which lingers even now in Wertern philosophy. However, any recourse to the segregation of the truth, the division of basic reality into any kind of dualism, is bound to be abortive in the end. For the concept of "unity in diversity" is not purely intellectual. It is the result of dynamic spiritual experience which academicians have always lacked.

In the ensuing reaction to the suppression of reason by the medievals, modern thinkers enthusiastically

infused a spirit of freedom from all religious presuppositions into an independent philosophical discipline. The methods of honest doubt and pure analysis were advocated by such men as Bacon, who said that dispassionate induction would lead to the objective knowledge of the external world, which would ultimately lead to the control of nature. So far as the knowledge of the changing, moving, physical world of time and space is concerned, his observation was flawless and his forecast has come true. But the hidden power of the human psyche, lies unexplored and unutilized waiting another Bacon to advocate a method, not of analysis but of intuition.

Bacon also encouraged the dualism of science and religion philosophy and theology He inspired the British empiricism of Hobbes and Hume. Both of these radical philosophers can be recognized as the pioneers of skepticism of the Western world. This skepticism is, to a great extent responsible for the radical trends in modern theology.

The philosophy of rationalism opposed the empiricism of Hume, but passed through various phases, beginning with Descarts, who has beautifully defined the concepts of self and God. It culminated in Kant, the great German philosopher of modern period. Unfortunately Descartes, who seems to have had some background in spiritual experience, everemphasized the dichotomy of body and mind and matter and spirit. Kant was a more profound thinker than Descarts, but he had the disadvantage of being purely academic in his attitude, although he did at times affirm faith in

Monthly Message

OF

H. H. Param Sant
Hazur Manav Dayal Ji Maharaj
Dr. I. C. Sharma

My dearest Satsangees,

Radhaswami and Blessings of the Supreme Compassionate Lord.

Before communicating to you this monthly message I want to be excused for two errors. One big error was committed when the message for the month of September was published in October and that of October was published in September. This was done inadvertently during my absence from India. I therefore apologize from you and request you to please prefix the message published in October to the one published in September. This reversal will help you to maintain the consistency. The second error was concerning the publishing of my tour programme on page 51 in the Hindi Section. In this case instead of 22nd May it was wrongly printed 22nd April. This occured in the Monthly Message published in September

ssue even in English.

I mostly remained in Hoshiarpur during the moth of June 1986. The daily and weekly satsangs were delivered as usual. There was tension during this month in Punjab and Haryana states. I seldom visit Haryana, but this time an unusual event compelled me to start for Hissar from Hoshiarpur in the late hours of the 21st June. This preordained event is worth mentioning here

Normally the relations of a saint with his kith and kin have no particular spiritual significance. Param Dayal Ji Maharaj was unique who related his domestic events for the benefit of his satsangies in many of his discourses The close relations of the Avataras and saints have not usually rejected them as incarnation of God, but have many times opposed them bitterly. One of the reasons of this infidality on the part of the relatives, parents, sponses, brothers etc. is that these relations living in the same house with the Avatara look at his behaviour as one of them . As a matter of fact a saint also behaves like a common man and has same regard for his relatives as a lay man does. While living in the family his behavior is not unusual becaue he knows that he has to pay off his Karmas to them, and thus he fulfills his domestic duties as a normal individual Inspite of being aware that he has come from Supreme Abode he does not reveal this fact in clear cut terms to his relatives But the deserving relatives do come to realize this truth, but such relatives are very rare. King Dashratha the father of Lord Rama accepted his son to be Supreme Being, and relinquished his body when Lord Rama went to exile.

Bhanu Kawar, the daughter of Guru Amaras and her husband Ram Das continued to regard Guru Amar Das as Supreme Being and served him in the same ferver through out their lives as long as Guru Amar Das Ji lived.

Bharat and Lakshman had full faith in Rama as Supreme Being. But Duryodhana who was a kin of Lord Krishna, bitterly opposed him. Many such examples can be stated where the saints and the devotees of Lord had to face opposition from their kith and kin. All the relatives of saint Mira were bitterly opposed to her. Same was the case with the situation of the great devotee Narsi Mehta of Gujrat. His brother and brother's wife tortured him quite a bit. Normally relatives of saints do not derive any benefit from them because of lack of faith under the impression that the saint is just a kith and kin. Param Dayal Ji Maharaj has also given examples of his close relatives in this context and had assured that his relatives could not experience miraculous events like his satsangis because they could not get out of the feeling hat they were only relatives. He has stated many times that the hundreds of childless satsangis including baren women were benefitted by having issues by eating the blessed fruit given to them by him for this purpose. But he also stated that his own daughter could never get issue inspite of the fact that he had given her blessed fruit many times for this purpose simply because she could not get off the idea that Param Dayal Ji was her father.

In this connection I have a different opinion. I

may be wrong, but I think that Param Dayal Ji Maharaj purposely did not use his special power to give radiation in the fruit to be given to his daughter to let a miracle happen because he wanted the satsangis to understand the law of Karma and to turn towards God with pure-heartedness. By denying a special privilege to his daughter he let his family undergo the suffering due to reform the satsangis. The purpose of stating this here is not to show that the relatives always lack faith in a saint. On the contrary, as stated above some relatives do recognize a saint to be Supreme Being. This faith of theirs help them to attain spiritual development.

A similar event happened in my case which compelled me to start for Hissar on the 21st June '86. In this context I want to mention that my father-in-law Mr. Keshav Das Manuja advocate Notary Public of Hissar had ceased to consider me as a son-in-law and had accepted as his spiritual mentor for the last five years. He had a robust health. He continued to play tennis uptil age eighty two. During the third week perhaps on the 16th June he suffered from a heart attack but the next day he again went to play tennis. When he suffered from his second stroke after playing tennis, his friend Dr. Somy got Mr. Manuja admitted to the Chopra Nursing Home, Hissar and gave telephonic message to Mrs Chhabra, Mrs. Shobha Saluja and her husband and Mr and Mrs. K. Kumar the three daughters of Mr. Manuja who could be contacted in Delbi. All these relatives arrived in Hissar immediately and attended my father-in-law, Mr. Manuja's condition

improved. Salujas left for Delhi and tried to contact me at Hoshiarpur and successfully. However, they informed me telephonically about this event. I contacted Shri Vijay Naresh Negi D.I G. Police, Hissar to get me the latest information about my father-in-law because Chandigarh has direct telephone connection with Hissas. Within an hou I was informed that my father in-law had improved in his health and there was no cause of worry. However, I was told that the doctors have advised him to proceed to Delhi for a thorough check up Mr Manuja had categorically stated that he would not move from Hissar unless and untill Manav Dayal Ji Maharaj visited him. I was satisfied on getting this information and decided that we should proceed to Hissar soon. However, I got a second message from Mr. Negi at 4 P.M. stating that Mr. Manuja's condition had again deteriorated and that it was not necessary to move him to Delhi on the morning of 22nd June. I told Mr. Negi to communicate to my sister-in-law in Hissar that we would start from Chandigarh at 5 A.M. on the 22nd June and arriv in Hissar by 8 os 9 A.M This occurred on the 21st June and we arrived in Chandigarh in our Matador on the 21st evening. Next morining we started for Hissar at 5 A.M.

Though the Haryna agitation had been called off yet the road was obstructed at many places with felled trees. As a result of this we arrived at Chopra Nursing Home at 10 A.M. We went straight to the room where Mr. Keshav Das Manuja was being treated. On arriving there we came to know that Mr. Manuja had been vomitting blood all the night and was therefore

unconscious. The moment I touched him he opened his eyes and his special expression showed that he was happy on my arrival He was not able to speak though he communicated his satisfaction through his eyes and gestures. I took his head in my hands and went into meditation for about fifty minutes. When I opened my eyes he was staring at me. The doctor was feeling his pulse. In a moment I noticed his soul passing out of his eyes with a flash of light and he closed his eyes for ever. The doctor was attempting to massage his heart to get his pulse back. I told him that the light was out. Mr Manuja left his body without any gron or sense of pain. I myself performed the cremation rites because none of his sons was able to arrive at Hissar till evening. Next day the leading attorneys and officers of Hissar attended the obituary meeting and paid their homage to the saint-like character of Mr. Manuja. His humanistic qualities and independence were applauded by all. I have already stated that for the last five years Mr. Manuja had turned highly spiritual and that he had accepted me as his Spiritual Mentor. He was an ardent reader of Manav Mandir and liberally donated to Manavta Mandir. His last desire that I should be present at the time of his departure to the final abode was thus fulfilled.

I realized that he was truly spiritual and humanistic The performance of his last rites for him appears to have been preordained. After consigning his mortal remains to the river Ganga in Haridwar we returned to Hoshiarpur on the 25th June. I am stating this event here to point out that such events are unavoidably preordained just as my tour in the month of March had been cancelled to render last service to late Mr. Gopal Das who had served Param Dayal Ji Maharaj all his life. A similar incident happened in the case of death of Mr Manuja. I usually start on my foreign

tour in the month of April but this time I do not know why I postponed this for the month of July 1986. It is, therefore, evident that this postponement was pre-ordained and I was destined to perform the last rites of Mr. Manuja.

The purpose of mentioning these events is to remind the readers that this cosmos is bound by the Law of Karma which is immutable. Everyone has to bear the fruits of his or her bad and good actions without any exception. The great saint Tulsi Das has said :

'The Cosmos is bound by the Karmas indeed.
Everyone has to bear the fruits of his deed.'

In order to get rid of all the Karmas and to be free from the cycle of rebirth one must be in touch with the Perfect Master and continue to practice spiritual discipline under his guidance. I had explained the significance of austerity in the last monthly message with the purpose of making you understand the importance of spiritual discipline. The point I was discussing was that the austerity of speech consists in avoiding bitter language and that this austerity has a great significance.

In continuation of that very discussion I want to add a few words. A person who expresses his views by controlling his speech and by uttering mild language always behaves rightly. We perform three types of actions through body, speech and mind. Speech is in between body and mind. When a person does not harm others through speech, his physical and mental actions also become harmless. Thus he will always remain pure and humble. I will have to continue this discussion in the next monthly message because the preseut message has become too long.

I sincerely desire that this monthly message may inspire you all to control your speech and to lead a happy life. With love and blessings to all of you.

Yours in Faqir
Manav.

Most Important Informations

It is a matter of great pleasure that during the past year His Holiness Hazur Manav Dayal Ji Maharaj has been extremely busy in touring all over India and abroad for delivery spiritual discourses and for establishing new centres because of the centenary celebration of Param Sant Param Dayal Ji Maharaj. Within two days His Holiness Param Sant Hazur Manav Dayal Ji Maharaj established three new centres in Tinidod West Indies. The demanad of the spiritual discourses in increasing every day. The Dusehra Fakir Conference of Saints held in Salwan Public School, Old Rajindra Nagar, Delhi on Oct. 9th. 10th, 11th, 12th 1986, was a unique event. His Holiness delivered satsangs to thousands of satsangis who came from all over India and also from America to participate in the centenary Dusehra satsang. The gathering of thousands of pcople on this occasion surpassed all the records of past thirty years. The correspondence has risen to unimaginable height: It is at least twenty times larger than the past ten years. On account of these reasons and on account of the establishment of new centres all over the world, His Holiness may not be able to visit all the centres in India or abroad every year.

Therefore, I request all those centres in India which have been benefitted by His satsangs. So far, during the Basant tour (from Jan: 87 to March 1987) to write to me by the 10th of December, 1986 if they want invite

His Holiness during this spring. This is necessary because of the tremendous responsibility of satsangis of the whole world which rests on the shoulders of His Holiness Hazur Manav Dayal Ji Maharaj. Therefore I repeat, that the interested centres all over India should send their request to me by the above date, so that nll concerned may be informed to organise the tour for the benefit of organisers as well as of the satsangis.

Many satsangis of Andhra Pardesh have complained to His Holiness Hazur Manav Dayal Ji Maharaj that he had not visited them for a long time. Following the footsteps of Param Dayal Ji Maharaj. He has never disappointed any one. Therefore, the centres of Andhra Pardesh, Maharashtra, and Madhya Pardesh should send their invitations through their organisers to me directly at Manavta Mandir in Hoshiarpur. After such correspondence the programme will be finalised.

S. L. Sethi
General Secretary

प्रार्थना

राधास्वामी, राधास्वामी, राधास्वामी।
अलख अगम और अनामी।
राधास्वामी, राधास्वामी, राधास्वामी।
परम, सन्त का रूप धरा, जीवों पर उपकार किया।
सीधा सच्चा मार्ग दिया, आये धुर पद धामी।
राधास्वामी, राधास्वामी, राधास्वामी।
बन कर आये परम फ़कीर, हरने सब जीवों की पीर।
परम दयालु दानी वीर, नाम दान के दानी।
राधास्वामी, राधास्वामी, राधास्वामी।
राम भी हो और कृष्ण भी तुम।
तुम महावीर और बुद्ध गौतम।
अक्षर ब्रह्म और पुरुषोत्तम, सब नामों में अनामी।
राधास्वामी, राधास्वामी, राधास्वामी।
मानवता का किया प्रचार, निज अनुभव का दे दिया सार।
ऐसे गुरु को बारम्बार, नमामि नमामि नमामि।
राधास्वामी, राधास्वामी, राधास्वामी।
दाता दयाल के प्यारे तुम मानव के रखवारे तुम।
निर्गुण और सगुण भी तुम, सब के अन्तर्यामी।
राधास्वामी, राधास्वामी, राधास्वामी।

Regd. No. 26265/74 NOVEMBER 10th 1986
MANAV MANDIR NWHSP—7

ADDRESS

To

72. Sh. Anand Rao Jl
H. No. 1-3-17 Kalasi Gudda
Near Laxmi Narain Mandir
Secunderabad A. P.

Phone : 2028

From :

MANAVTA MANDIR
SUTEHRI ROAD,
HOSHIARPUR-146001

Shiv Dev Rao Press Manavata Mandir, Hoshiarpur (Pb.)